जैन भारती

अगस्त, 2007 • वर्ष 55 • अंक 8 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

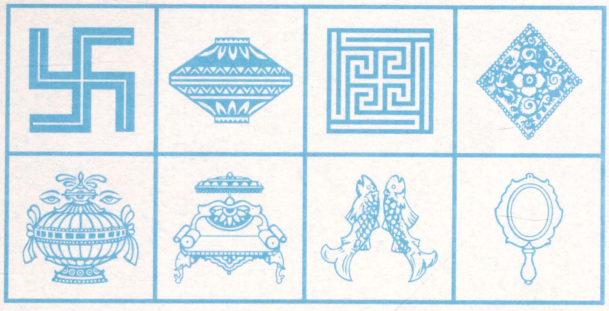

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22253276, (R) 25534815

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 55 • अगस्त, 2007 • अंक 8

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
स्वतंत्रता का अर्थ

15
डॉ. संतोष आचार्य
कर्मबंधन और आत्मस्वातंत्र्य : भारतीय दृष्टि

21
वी.एम. तारकुण्डे
स्वतंत्रता : मानवमूल्य; सकारात्मक प्रतिक्रिया

•

आवरण
अडिग

अनुभूति

27
जैनेन्द्रकुमार
वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व

30
मुनि सुखलाल
संस्कृत साहित्य और तेरापंथ का अवदान

39
कहानी
नवनीता देवसेन
हीरे के कर्णफूल

42
कविता
स्वामी संवित् सोमगिरि की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
स्वतंत्रता और स्वेच्छाचारिता

शीलन

45
साध्वी ललितरेखा 'खाटू'
कोहो या माणो य अणिग्गहिया

53
मुनि धर्मचंद 'पीयूष'
धृति में है सफलता के सोपान

55
बालकथा
प्रतिभा नाथ
दोस्ताना व्यवहार

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

यह बात तो मूर्ख मान सकता है

दो मनुष्यों के लंबे समय से परस्पर वैर-विरोध चल रहा था। बाद में उन्होंने परस्पर मेल-मिलाप कर लिया। एक व्यक्ति दूसरे को निमंत्रण देकर भोजन कराने अपने घर ले गया। भोजन परोस कर बोला—'भाई साहब! भोजन करें।'

तब वह बोला—'तुम भी मेरे साथ भोजन करने बैठो।' वह उसके साथ भोजन नहीं करता।

तब वह बोला—'यदि तुम साथ में भोजन नहीं करोगे, तो मुझे भी भोजन करने का त्याग है।'

उसका निष्कर्ष था कि यदि भोजन में विषैले द्रव्य मिलाए हुए हैं, तब तो यह भोजन नहीं करेगा और यदि वह शुद्ध है तो साथ में भोजन कर लेगा।

ऐसे ही असंयती को दान में पुण्य बतलाते हैं, तब समझदार आदमी जान लेता है कि ये स्वयं तो देते नहीं और दूसरों को दान में पुण्य बतलाते हैं। किंतु यह बात तो, जो मूर्ख होगा, वह मानेगा। यदि उसमें पुण्य हो, तो पहले स्वयं वैसा करेंगे, दूसरा व्यक्ति तभी उसे मानेगा।

चार अंगुल वस्त्र-खंड के लिए

पादू में एक भाई ने कहा—'हेमजी स्वामी की चादर प्रमाण से बड़ी लग रही है।' तब स्वामीजी ने लंबाई और चौड़ाई, दोनों ओर से नाप कर उसे दिखा दी। वह प्रमाणोपेत निकली। तब स्वामीजी ने उसे बहुत उलाहना दिया। आपने कहा—'चार आंगुल के वस्त्र-खंड के लिए क्या हम अपना साधुपन खोएंगे? क्या तुम हमें इतने भोले समझ रहे हो? तुम्हें इतनी ही प्रतीति नहीं है तो कोई साधु यदि मार्ग में सजीव जल पी ले या और कुछ कर ले, तो तुम कहां-कहां उसके पीछे जाओगे?' इस प्रकार उसे बहुत कड़ी चेतावनी दी।

तब वह हाथ जोड़ बोला—'मुझे झूठा ही संदेह हो गया, आप क्षमा करें।' ●

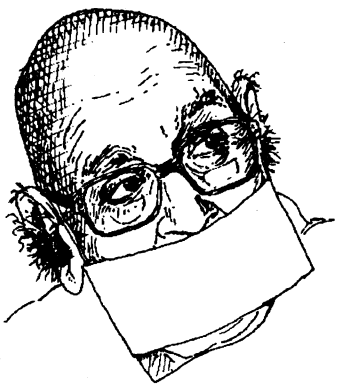

हर व्यक्ति की यह आकांक्षा होती है कि उसका वैशिष्ट्य प्रकट हो। दूसरे लोग उसका मूल्यांकन करें, किंतु अन्य लोगों के प्रति उसका दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं होता। वह उनकी विशेषताओं में भी कमी देखता है। अपनी बड़ी-से-बड़ी गलती उसे छोटी दिखाई देती है, जबकि दूसरों का साधारण-सा दोष पहाड़ जितना बड़ा हो जाता है। यह दृष्टिकोण का ही अंतर है कि व्यक्ति को अपने दोषों में अच्छाई का भ्रम होता रहता है। अंतर्मुखी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पारदर्शी होती है कि वह बाहर के सब आवरणों को चीरकर अपनी दुर्बलताओं को देख लेता है।

मनुष्य और कुछ देखे या नहीं, इतना अवश्य सोचे कि आनंदमय जीवन कैसे जीया जा सकता है। आनंद का स्रोत कहीं बाहर नहीं है। अपने ही भीतर जो स्रोत है, उसे ही खोजने की जरूरत है। इस खोज में खुद को ही खपना होगा। 'जिन खोजा तिन पाइया'—का सिद्धांत अनुभव की वाणी है। भगवान महावीर ने भी कहा है—'पत्तेयं सायं, पत्तेयं वेयणा'—सुख-दुख अपना-अपना है। कोई किसी को न सुखी बना सकता है और न दुखी बना सकता है। दूसरे लोग तो मात्र बैसाखी बन सकते हैं।

—आचार्यश्री तुलसी

आदमी के भीतर अनंत शक्तियों का भंडार भरा पड़ा है। अपेक्षा है कि उन अनंत शक्तियों का प्रकटीकरण हो। आदमी के पास सब-कुछ है—ज्ञानशक्ति, चिंतनशक्ति, कर्मशक्ति आदि। वह विकास की अनंत संभावनाओं को उजागर कर सकता है—यदि अपनी शक्तियों को जागरूकता के साथ सही दिशा में नियोजित करे। शक्तिसंपन्न व्यक्ति वर्तमान में जीना चाहता है, क्योंकि उसे अपनी क्षमताओं पर विश्वास होता है। वह शक्ति, श्रम, समय और सोच के साथ कार्य संपादित करता है, जिससे अपने जीवन को सार्थक कर सकता है। सत्त्वहीन व्यक्ति की कमजोरियों का नाजायज फायदा उठाकर लोग अपने स्वार्थों की रोटी सेंकने लगते हैं, इसलिए शक्तिसंपन्न होना बहुत जरूरी है। आदमी शरीर से सबल बने ताकि रोग, तनाव आदि उसे प्रभावित न कर सकें, किंतु शरीरबल से भी ज्यादा जरूरी है—मनोबल, संकल्पबल, संयमबल आदि। यदि आदमी का मनोबल मजबूत है, दृढ़ संकल्पशक्ति है और संयम के प्रति गहरी निष्ठा है, तो ऐसा कोई कार्य नहीं कि जिसे वह न कर सके। व्यक्ति नई शक्तियों को जगाने का हरसंभव प्रयास करे और प्राप्त शक्तियों का गोपन न हो—ऐसा संकल्प करे तो वह अपने वर्तमान जीवन को अच्छा बना सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

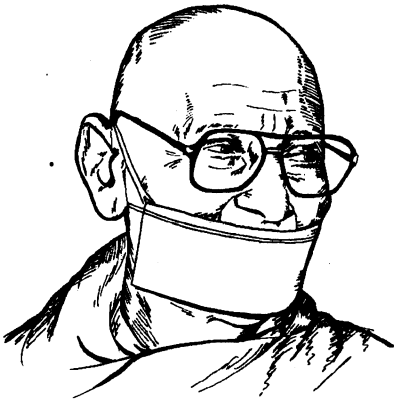

कुछ स्वामियों के उपरांत भी सबसे श्रेष्ठ शासन-प्रणाली कोई है, तो वह लोकतंत्रीय प्रणाली है। इसीलिए सारे विश्व में लोकतंत्र फैलता जा रहा है। यह लोकतंत्र की एक छोटी-सी मीमांसा है। यह केवल समाज-व्यवस्था की मीमांसा नहीं है, केवल राजनीतिक प्रणाली की मीमांसा नहीं है, यह मूल मानवीय प्रकृति की मीमांसा है। मनुष्य की जो मूल प्रकृति है, उसके साथ लोकतंत्र का मेल ज्यादा है। दूसरी भाषा में कहा जा सकता है कि यह महावीर के अनेकांतवाद सिद्धांत का विश्लेषण है। एक होता है दर्शन और एक होता है दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप। महावीर के दर्शन को लोकतंत्र में व्यापक रूप मिला है। उसमें अब जरूरत है व्यवस्था और अध्यात्म के योग की। यदि यह योग मिल जाए तो अहिंसा, सापेक्षता, शांति—ये तत्त्व अधिक विकसित हो सकते हैं। लोकतंत्र को चलाने वाले लोग अध्यात्म को अपने साथ जोड़ लें तो लोकतंत्र सोने में सुगंध बन जाएगा।

स्वतंत्रता मनुष्य का निसर्ग है। उसका समर्थन कर लोकतंत्र ने मनुष्य के मन को जीता है। स्वतंत्रता का आधारभूत पहलू है—संयम। उसकी उपेक्षा कर लोकतंत्र ने स्वतंत्रता को महत्त्वाकांक्षा के रूप में बदल दिया। मनोवैज्ञानिक और अर्थशास्त्री महत्त्वाकांक्षा को बुरा नहीं मानते, वे विकास के लिए उसे आवश्यक मानते हैं। पर, यदि महत्त्वाकांक्षा और क्षमता का संतुलन न हो तो कोरी महत्त्वाकांक्षा क्या मनुष्य को गलत रास्ते की ओर नहीं ले जाएगी? आज की राजनीति ने महत्त्वाकांक्षा के सूत्र को पकड़ा है और क्षमता के सूत्र की उपेक्षा की है। इसीलिए वर्तमान राजनीति राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में प्रस्थान नहीं कर रही है। उसका प्रस्थान सत्ता की कुर्सी की ओर हो रहा है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

स्वतंत्रता और स्वेच्छाचारिता

क्या स्वतंत्रता में किसी परिधि को स्वीकार किया जा सकता है? 'हां' या 'ना' में उत्तर बड़ा कठिन है। स्वतंत्रता को किसी परिधि में सीमित नहीं किया जा सकता, पर किसी भी तरह के मनमानेपन को भी स्वतंत्रता नहीं कहा जा सकता। मनमानापन एक ऐसी उच्छृंखलता है जो किसी अन्य की स्वतंत्रता का हनन करता है और इसीलिए वह स्वीकार्य नहीं है। जहां स्वतंत्रता का यह मानी समझ आ जाता है, वहां परिधि का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता। इसलिए कह सकते हैं कि स्वतंत्रता को जिस तरह परिधि स्वीकार नहीं, उसी तरह मनमानेपन के लिए भी वहां जगह नहीं है। स्वतंत्रता में सहज अनुशासन परिलक्षित होता है और इस तरह कह सकते हैं कि जहां अनुशासन है, वहां स्वतंत्रता स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। ऐसा अनुशासन किसी के द्वारा थोपा हुआ नहीं होता, वह स्वानुशासन ही होता है।

तब हम यह भी कह सकते हैं कि स्वतंत्रता किसी की दी हुई वस्तु नहीं हो सकती है। वह बख्शीश में नहीं मिलती, न बख्शीश पाई जा सकती है। जिस राजनीतिक स्वतंत्रता का आस्वाद हम कर रहे हैं और पूरी दुनिया में इसे लेकर अनेक रूपों में संघर्ष हुए हैं, हो रहे हैं—वे सब महत्त्वपूर्ण हैं और बिना इस राजनीतिक स्वतंत्रता के आम आदमी की स्वतंत्रता की बात ही अर्थहीन हो जाती है, पर स्वतंत्रता का अर्थ इससे कहीं अधिक गहरा है, व्यापक है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्वतंत्रता की बात करते हुए कहते हैं—'भय, प्रलोभन, द्वेष, आवेश, हीन-भावना, अहं-भावना और लोकवाद—स्वतंत्रता की सीमा इनसे अप्रभावित होती है। वास्तव में इनसे अप्रभावित स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है। अन्यथा वह परतंत्रता है।' वे फिर कहते हैं—'अप्रभावित चेतना के बिना स्वतंत्रता का मूल्य नहीं आंका जा सकता।'

स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ ऊपर के कथन से एकदम खुलकर हमारे सामने उपस्थित है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक ओर भय, प्रलोभन, द्वेष, आवेश, हीन-भावना, अहं-भावना और लोकवाद से अप्रभावित रहने या होने को स्वतंत्रता मानते हैं, वहीं यह भी मानते हैं कि अप्रभावित चेतना के बिना भी स्वतंत्रता का मूल्य नहीं है। इस तरह से हम यह पाते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए किए गए और किए

जा रहे संघर्ष वास्तविक रूप में फलदाई तभी हो सकते हैं जब स्वतंत्रता का ऐसा रूप उद्घाटित हो। इस तरह यह कहना होगा कि जो परिस्थितियां वर्तमान में विद्यमान हैं, उनके चलते हमारी स्वतंत्रता आधी-अधूरी है। वास्तविक स्वतंत्रता के लिए हमें अभी बहुत-कुछ करना, पाना बाकी है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ और इसके पहलुओं को विविध रूपों में स्पष्ट किया है। एक जगह वे कहते हैं—'जो मनुष्य किसी का बुरा नहीं करता, वह किसी से नहीं डरता। उसके पास छिपाने को कुछ नहीं होता, इसलिए वह निर्भय रहता है। वह हिम्मत के साथ हरएक आदमी के ठीक सामने देख सकता है। उसके कदम दृढ़ होते हैं। उसका शरीर सीधा तना हुआ होता है। और, उसके शब्द सरल और स्पष्ट होते हैं।' डॉ. राधाकृष्णन के इस कथन और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के उपरोक्त कथन में गहरी साम्यता है और स्वतंत्रता के वास्तविक पहलू इनसे उजागर होते हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी कुछ इसी तरह की बात कहते हैं। वे कहते हैं—'अगर दुनिया में लोभ नहीं होता, तो हथियारों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती। अहिंसा के सिद्धांत का यह तकाजा है कि हम किसी भी प्रकार के शोषण से पूरी तरह दूर रहें। शोषण की भावना के मिटते ही हथियारों का विशाल संग्रह दुनिया के राष्ट्रों को निश्चित रूप से असह्य बोझ मालूम होने लगेगा। हथियारों का सच्चा त्याग तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक दुनिया के राष्ट्र एक-दूसरे का शोषण करना बंद नहीं करते।'

महात्मा गांधी का यह कथन भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी और डॉ. राधाकृष्णन के उपरोक्त कथनों के समानांतर है और इस महान त्रयी के ये विचार वास्तविक स्वतंत्रता के भिन्न-भिन्न फलक खोलते हुए उनके मध्य गहरी साम्यता को भी प्रकट करते हैं। इस तरह हम मान सकते हैं कि स्वतंत्रता के लिए होने वाले किसी भी अभिक्रम में ये तत्त्व अनिवार्यतः जरूरी हैं और ये न हों तो स्वतंत्रता अधूरी है।

आज हम लोग एक अधूरी स्वतंत्रता का अधकचरा आस्वाद ले रहे हैं। इसका बुनियादी कारण एक ही है कि हमने राजनीतिक स्वतंत्रता-भर को स्वतंत्रता का अंतिम लक्ष्य मान लिया। दुनिया का कोई भी देश, जो आज स्वतंत्र है या इसके लिए संघर्ष कर रहा है, लक्ष्य मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता ही है। हम मानते हैं और कहा भी है कि राजनीतिक स्वतंत्रता जरूरी है, पर इसे हासिल करने के बाद यदि गांधी, महाप्रज्ञ और राधाकृष्णन के उपरोक्त कथनानुसार हम अग्रसर नहीं होते हैं तो राजनीतिक स्वतंत्रता मात्र सत्ता हस्तांतरण होकर रह जाती है। आज सब ओर लगभग ऐसा ही नजर आ रहा है। इस धारा को बदलना जरूरी है।

भारत जैसे देश से यह आशा की जा सकती है। भारत की संस्कृति, सभ्यता और संस्कारों में मूलतः परस्परता, समता और सह-अस्तित्व के बीज-तत्त्व हैं। आम जीवन में इन तत्त्वों की प्रमुखता का क्षय होते हुए भी सामान्य-जन में ये तत्त्व आज भी किसी हद तक विद्यमान हैं। इनका पुनरुत्थान किया जा सकता है। शासन की सहभागिता और सामाजिक-सांस्कृतिक संगठनों की पहल इसके लिए आवश्यक है। ऐसी पहल अविराम गतिशील रहे और नीति-नियोजकों को प्रभावित करने की इसमें क्षमता हो—यह जरूरी है।

तब हमें कुछ बुनियादी परिवर्तनों के लिए गंभीरता से विचार करना जरूरी है। यह जरूरी है कि हम शिक्षा को प्रतिस्पर्द्धा-मुक्त करें। हमारी आज की शिक्षा में प्राथमिक स्तर से ही प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो जाती है। इसी से वे विष-बीज बालक के कोमल मन-मस्तिष्क में अपना स्थान बना लेते हैं जिनका जिक्र इस 'प्रसंग' में हमने किया है। यदि माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तर तक शिक्षा को प्रतिस्पर्द्धा अथवा नकारात्मक होड़ से बचा लें तो उच्च शिक्षा का स्वरूप स्वतः एक निखरे रूप में सामने आ सकता है। तब व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता और मनमानापन स्वतः निर्मूल हो सकता है। तब अनुशासन किसी के थोपने में नहीं, स्वानुशासन में स्वतः परिलक्षित होगा। तब हमारी संस्कृति, सभ्यता और संस्कारों का पुनर्प्रकटन हो सकेगा।

भारत की स्वतंत्रता के साठवें वर्ष पर हमारी ऐसी परिपक्वता परिलक्षित होनी चाहिए। स्वतंत्रता के असली अर्थ हमारे सामने उजागर हो सकें—जैन भारती के इस अंक में हमने यह प्रयत्न किया है।

—शुभू पटवा

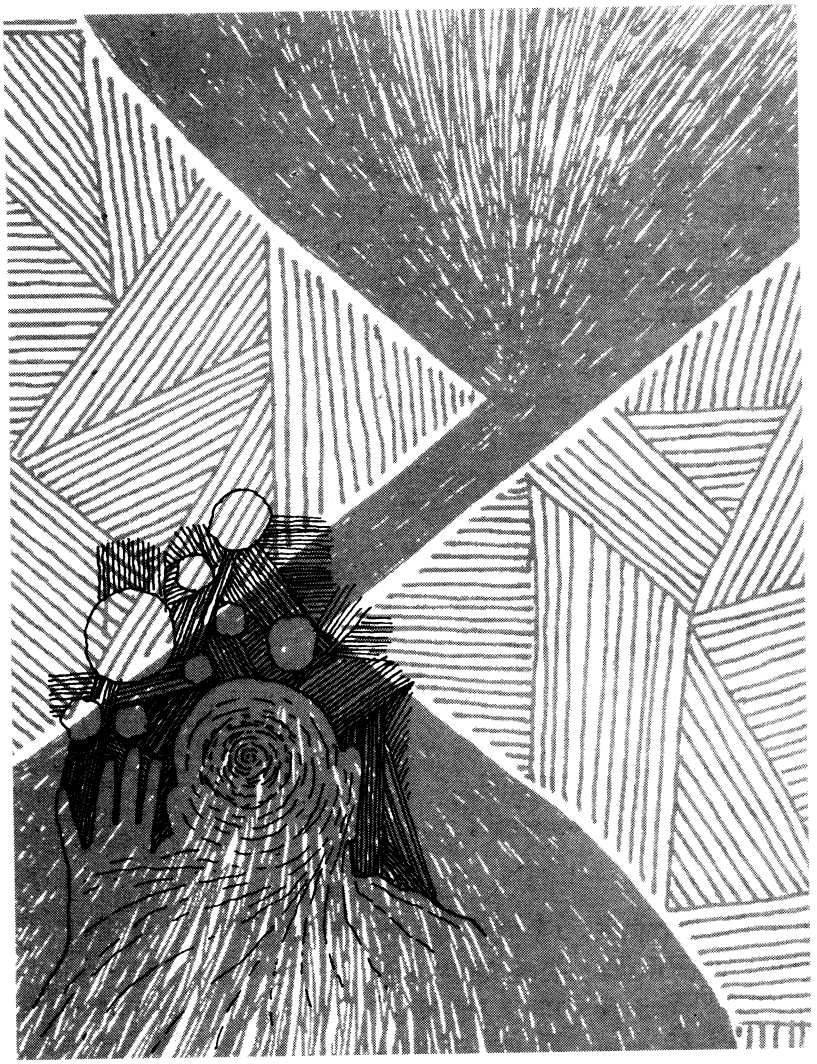

विमर्श

किसी भी समाज और सभ्यता के संकट (या कह लीजिए, रोग) उसके सबसे संवेदनशील और अग्रगामी सदस्यों में प्रकट होते हैं। साथ ही इस संकट अथवा रोग के लक्षण ही नहीं, निदान और प्रतिकार के संकेत भी समाज के इन्हीं सृजनधर्मी आत्म-केंद्रों के जरिए प्रकट होंगे। क्या यह देख पाना—बिना किसी रोमानी अतिरंजना के—संभव नहीं, कि कवि-कलाकार वर्ग के ये बुद्धिजीवी अपने समाज के बलि-पुरुष भी कहे जा सकते हैं और आरोग्य-विधाता भी। जीवन के मूल्य स्वयं जीवन की गति या गतिरुद्धता के फलस्वरूप विस्मृत या विकृत हो जा सकते हैं। परस्पर विरोधी संस्कृतियों और जीवन-दृष्टियों की अधूरी अथवा पूरी टकराहट के फलस्वरूप जो अनिश्चय और दिग्भ्रांति उत्पन्न होती है, उसके चलते भी एक मूल्यमूढ़ता और मूल्यगत अराजकता छा जाती है। इस परिस्थिति का वास्तविक रचनात्मक प्रतिकार अकेले मूल्यान्वेषी चिंतन से या सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के कर्मकांडी उद्योग से नहीं हो सकता। यह सब भी अपनी जगह काम का हो सकता है, किंतु महज आदर्शों पर बल देने से अथवा यथार्थ का बौद्धिक आकलन-भर करके अतीत के किन्हीं सांस्कृतिक मानदंडों से वर्तमान को माप लेने या पीट देने-भर से अधोगति को नहीं थामा जा सकता। नैतिक दायित्वों का निर्वाह भी, लगता है, मात्र नैतिकता के स्वयं-पर्याप्त वृत्त के भीतर सीमित नहीं किया जा सकता। जीवन का ऋणशोध जीवन देकर ही हो सकता है।

—रमेशचन्द्र शाह

मस्तिष्कीय प्रशिक्षण के अभाव में यह स्थिति बनी है। विषमता के प्रति हमारे मन में ग्लानि नहीं है, समता के प्रति हमारा लगाव नहीं है। क्रूरता, लोभ, भोग और सुविधावाद आदि के प्रति दृष्टिकोण बदल जाए तो ऐसा नहीं होने की आशा की जा सकती है। क्रूरता का प्रक्षालन नहीं हुआ है, लोभ का परिमार्जन नहीं हुआ है, तभी ये समस्याएं खड़ी हुई हैं। आज व्यक्ति-स्वातंत्र्य है, पर अहिंसा नहीं है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य है, पर समता नहीं है। अगर समता होती तो समाज की प्रचुर संपत्ति पर कुछेक लोगों का ही अधिकार नहीं होता, सत्ता और संपदा केंद्रित नहीं होती। आज नब्बे प्रतिशत लोगों को बड़े लोगों की कृपा पर जीना पड़ रहा है। यह सामाजिक न्याय का खुला अतिक्रमण है और हिंसा को खुला अवकाश। यथार्थ का आलंबन लिए बिना कभी समस्या का समाधान हो नहीं सकता। समतापूर्ण और शोषणमुक्त समाज की रचना संभव बनेगी तभी अहिंसक समाज का सही निर्माण हो सकेगा। लोकतंत्र की स्वस्थता के लिए ऐसी स्थिति वरदान सिद्ध होगी।

स्वतंत्रता का अर्थ

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

वर्तमान युग व्यक्ति-स्वातंत्र्य की मांग करता है। महामना मनु ने कहा है—**सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं**—जो-कुछ परवश है, वह दुख है और जो-कुछ स्वतंत्र है—वह सुख है। एक सूत्र बन गया कि स्वतंत्र रहकर रूखा-सूखा भी अच्छा है और परतंत्र रहकर चुपड़ा हुआ खाना भी अच्छा नहीं है।

यह लोकतंत्रीय युग है। स्वतंत्रता का मूल्य आज अनिर्वचनीय है। सामाजिक, आर्थिक और व्यावहारिक क्षेत्र में दो प्रयोग प्रमुखतः चले—साम्यवाद का प्रयोग और लोकतंत्र का प्रयोग। साम्यवाद में व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर प्रत्यक्ष-परोक्ष नियंत्रण किया गया। उसमें निजीकरण की बात को समाप्त किया गया और राज्याधिकार की नीति पर बल दिया गया। परिणाम यह हुआ कि उत्पादन क्षमता में मंदता आ गई और आर्थिक विकास की दृष्टि से समाज पिछड़ गया। लोकतंत्र में व्यक्ति-स्वातंत्र्य को मूल्य दिया गया। इससे उत्पादन क्षमता तीव्र हो गई, पर अर्थ का बंटवारा न्यायोचित नहीं हो सका। बंटवारे में विषमता होने से समाज का जो विकास होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया। अमीर और ज्यादा अमीर हो गए, गरीब और ज्यादा गरीब हो गए।

स्वतंत्रता दिवस पर विशेष

व्यक्ति-स्वातंत्र्य और संविभाग

तीन बातें समाज के लिए जरूरी मानी गई हैं—1. उत्पादन की क्षमता, 2. उत्पादित संपत्ति का सम्यक् बंटवारा और 3. व्यक्ति-स्वातंत्र्य। समस्या यह है कि जहां व्यक्ति की स्वतंत्रता है, वहां संविभाग नहीं है। जहां संविभाग है, वहां व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं है। यह स्थिति कैसे सुलझे? यह जटिल पहलू है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य भी रहे तथा समस्या भी न आए। इसका समाधान है—व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अहिंसा का योग। जब तक इन दोनों को एक साथ नहीं देखेंगे तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। जो सबसे विषम पहलू है संविभाग का, उसका समाधान नहीं हो सकेगा। व्यक्ति

समाज-सापेक्ष है। कुछ सीमा व्यक्ति की अपनी होती है और कुछ समाज के साथ जुड़ी रहती है। समाज-सापेक्ष वैयक्तिक सीमा को समझना भी आवश्यक है, तो कुछ यथार्थ व्यक्ति से जुड़े हुए हैं—उनको समझना भी जरूरी है। जैसे व्यक्ति खाना खाता है, उसे पचाता है—यह उसकी वैयक्तिकता है, किंतु वपन से लेकर रोटी पकने तक की जो प्रक्रिया है—वह सब समाज-सापेक्ष है।

हिंसा : उपादान है व्यक्ति

समाज से कारणों का संबंध ज्यादा होता है और उपादान का संबंध व्यक्ति से होता है। समाज में हिंसा के कारण बहुत हैं, पर हिंसा का उपादान समाज नहीं है। उसका उपादान है—व्यक्ति। व्यक्ति का जीवन समाज-सापेक्ष है। यदि समाज के प्रति हृदय-परिवर्तन नहीं होता है तो अहिंसा की बात संभव नहीं बनती। यदि व्यक्ति केवल अपना हित देखता है, दूसरे का नहीं सोचता, तो सही अर्थों में वह अपना हित भी नहीं कर सकता है, क्योंकि वह समाज से जुड़ा हुआ है। यह सूत्र होना चाहिए कि समाज-हित ही मेरा हित है, समाज का कल्याण मेरा कल्याण है। ऐसा होता है तो हिंसा को बढ़ने का अवसर नहीं मिल सकता।

स्वतंत्र कौन

प्रश्न है कि हम स्वतंत्र व्यक्ति किसे मानें? समाज का कोई घटक स्वतंत्र नहीं है। वह समाज से जुड़ा हुआ है। जिसका हृदय-परिवर्तन हो चुका है, वही व्यक्ति स्वतंत्र है। जिसने अपने संवेगों पर नियंत्रण कर लिया है, वह व्यक्ति स्वतंत्र है। भौतिक पदार्थ के जगत में स्वतंत्रता की एक परिभाषा है, वह बाह्य जगत से जुड़ी परिभाषा है। स्वतंत्रता ने इतना भ्रम पैदा किया है कि वास्तविक स्वतंत्रता पर आवरण डाल दिया है। केवल वस्तु और पदार्थ जगत के उपभोग को ही स्वतंत्रता से जोड़ा गया है, इसीलिए विषमता का समाधान नहीं हो सका है। अहिंसा की दृष्टि से बाह्य जगत की स्वतंत्रता और आंतरिक जगत की स्वतंत्रता—दोनों पर विचार करना अपेक्षित है। स्वतंत्रता का अर्थ है आंतरिक गुलामी का नहीं होना।

आंतरिक स्वतंत्रता का अर्थ

आंतरिक स्वतंत्रता का अर्थ है—हृदय-परिवर्तन या मस्तिष्कीय प्रशिक्षण। हृदय-परिवर्तन के बिना न्यायोचित बंटवारे की बात संभव नहीं हो सकती। बहुत-से लोग गरीबों की सहायता करते हैं, इसलिए कि गरीबी कहीं हिंसा का रूप न ले ले। अहिंसा के ऐसे प्रयोग चल रहे हैं, किंतु इनके साथ आंतरिक परिवर्तन की बात नहीं जोड़ी गई। एक ओर बहुत साधन हैं, दूसरी ओर साधनों का अभाव है। इसी परिस्थिति में हिंसा के बीज अंकुरित होते हैं। हिंसा पैदा होती है परिस्थितिजन्य स्थिति से। प्रश्न है, यदि परिस्थिति का समीकरण कर दिया जाए तो क्या हिंसा मिट जाएगी? वह समग्र रूप से नहीं मिटेगी, किंतु उसकी तीव्रता कम हो जाएगी।

उत्तरदायी है व्यक्ति का मस्तिष्क

क्या संपन्न देशों में हिंसा नहीं है? यदि हम संपन्नता के साथ अहिंसा की व्याप्ति स्वीकार कर लेते हैं तो बहुत बड़ी भ्रांति को जन्म देते हैं। संपन्नता से जो विपन्नताजनित हिंसा होती है, केवल वही कम हो सकती है। किंतु, हिंसा का मूल उपादान है—व्यक्ति का मस्तिष्क। उसे बदले बिना अहिंसा की आशा नहीं की जा सकती। पहले विकल्प उठता है, फिर क्रिया होती है। पहले विचार पैदा होता है, फिर उसका आचरण होता है। विचार का उद्भव मस्तिष्क में होता है। जब तक मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं किया जाता, तब तक अहिंसक समाज-रचना की बात सार्थक नहीं हो सकती।

पत्तों को सींचने का प्रयत्न

अहिंसक समाज-रचना के संदर्भ में बहुत प्रयोग चले। भूदान और संपत्तिदान का प्रयोग चला। संपन्न राष्ट्र विपन्न राष्ट्रों के लिए करोड़ों रुपयों का सहयोग करते हैं। क्या हिंसा में कमी आई? इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक भाषा में नहीं दिया जा सकता। हमें स्वीकार करना होगा—हिंसा का सबसे बड़ा स्रोत हमारा दिमाग है। जब तक मस्तिष्क का प्रशिक्षण नहीं होता है तब तक हम हिंसा को कम नहीं कर सकते। सामाजिक और वैयक्तिक—दोनों क्षेत्रों पर ध्यान देना होगा। एक ओर विपन्नता को कम करने के प्रयोग चलते हैं, दूसरी ओर न्यायोचित बंटवारे की उपेक्षा हो रही है। यह केवल पत्तों को सींचने का ही प्रयत्न है। अतः अहिंसक समाज-रचना के लिए मस्तिष्कीय प्रशिक्षण होना चाहिए।

मस्तिष्कीय प्रशिक्षण के अभाव में यह स्थिति बनी है। विषमता के प्रति हमारे मन में ग्लानि नहीं है, समता के प्रति हमारा लगाव नहीं है। क्रूरता, लोभ, भोग और सुविधावाद आदि के प्रति दृष्टिकोण बदल जाए तो ऐसा

नहीं होने की आशा की जा सकती है। क्रूरता का प्रक्षालन नहीं हुआ है, लोभ का परिमार्जन नहीं हुआ है, तभी ये समस्याएं खड़ी हुई हैं। आज व्यक्ति-स्वातंत्र्य है, पर अहिंसा नहीं है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य है, पर समता नहीं है। अगर समता होती तो समाज की प्रचुर संपत्ति पर कुछेक लोगों का ही अधिकार नहीं होता, सत्ता और संपदा केंद्रित नहीं होती। आज नब्बे प्रतिशत लोगों को बड़े लोगों की कृपा पर जीना पड़ रहा है। यह सामाजिक न्याय का खुला अतिक्रमण है और हिंसा को खुला अवकाश। यथार्थ का आलंबन लिए बिना कभी समस्या का समाधान हो नहीं सकता। समतापूर्ण और शोषणमुक्त समाज की रचना संभव बनेगी तभी अहिंसक समाज का सही निर्माण हो सकेगा। लोकतंत्र की स्वस्थता के लिए ऐसी स्थिति वरदान सिद्ध होगी।

समाज में ऐसी परिस्थितियां तभी संभव हैं जब मानस-परिवर्तन की दिशा में सोचा जाए।

हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया

अहिंसा का अर्थ है—हृदय-परिवर्तन और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ भी हृदय-परिवर्तन ही है। हृदय-परिवर्तन के बिना व्यक्ति-स्वातंत्र्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता और अहिंसा को भी नहीं समझा जा सकता। प्रश्न यह है कि हृदय का परिवर्तन कैसे हो? हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है—दृष्टिकोण का परिवर्तन। यह मान लिया गया कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, किंतु जिस दृष्टि से यह कहा गया, उस दृष्टि से ऐसा कुछ ग्रहण नहीं किया गया कि श्रेष्ठता परिलक्षित हो। विकास की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्राणी जगत में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इसका अर्थ भी इस रूप में कर लिया गया कि मनुष्य ही इस सृष्टि का स्वामी है। जितने पदार्थ हैं, सब मनुष्य के लिए हैं, क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य भोक्ता है, शेष सब भोग्य हैं—इसी दृष्टिकोण ने पर्यावरण को दूषित किया। नियंता, कर्ता और भोक्ता—तीनों ही मनुष्य बन गया। पदार्थ एवं प्राणी जगत के प्रति उसका दृष्टिकोण गलत हो गया। मान लिया गया कि जितने प्राणी हैं, उन सब पर मनुष्य का अधिकार है। वह उनका दोहन कर सकता है, उनका आरोपण तथा आहार कर सकता है। प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियों के अवयवों एवं चमड़े का उपयोग कर सकता है। इस सारी क्रूरता का मूल स्रोत यही अवधारणा है कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इसी धारणा ने मनुष्य को क्रूर और हत्यारा बनाया है।

प्राणियों का शोषण और पदार्थों का अतिरिक्त दोहन—ये दोनों परिस्थितियां हिंसा को जन्म दे रही हैं। इन समस्याओं को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। ये सारी समस्याएं शृंखलाबद्ध हैं।

उपादान और निमित्त

भगवान महावीर ने दो 'नयों' के आधार पर एक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—'निमित्त और उपादान, परिस्थिति और अंतर्जगत—दोनों को तोड़कर मत देखो।' कुछ लोग सारा भार परिस्थिति पर ही डाल देते हैं। परिस्थिति नहीं बदलेगी तो समस्या का समाधान नहीं होगा। दूसरी ओर जो अध्यात्मवादी हैं, उनका मत है कि अंतर्जगत में सुधार नहीं होगा, उपादान नहीं बदलेगा तो समस्या का समाधान नहीं होगा। हमारा मानना है कि ये दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। निमित्त और उपादान—ये दोनों जुड़े हुए हैं। उपादान शक्तिशाली है और निमित्त प्रतिकूल है, तो उपादान कुछ नहीं कर पाएगा। निमित्त शक्तिशाली है और उपादान क्षमतावान नहीं है, तो निमित्त कुछ नहीं कर पाएगा। जो-कुछ घटित हो सकता है, इन दोनों के योग से ही हो सकता है। अतः दृष्टिकोण के परिवर्तन के लिए दोनों पर ध्यान देना अपेक्षित है। यह सर्वांगीण दृष्टिकोण है कि व्यवस्था-परिवर्तन बहुत अपेक्षित है, तो साथ-ही-साथ उपादान का परिष्करण भी आवश्यक है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि व्यवस्था का संचालक कैसा है? अगर संचालक अच्छा नहीं है, तो व्यवस्था अपने-आप कुछ नहीं कर पाएगी। लोकतंत्र इसीलिए गड़बड़ा रहा है, क्योंकि लोकतंत्र को थामने वाले हाथ उसकी नैया को खेने वाले नहीं, डुबोने वाले बन रहे हैं। दोनों का योग चाहिए—अच्छी व्यवस्था और अच्छा संचालक।

समाज-सेवा : चित्तशोधन

विनोबा ने एक बहुत अच्छी बात कही थी कि समाज-सेवा और चित्त-शोधन—दोनों का योग होना चाहिए। जब तक समाज-सेवा या राज्य-सेवा के साथ चित्त-शोधन की बात नहीं जुड़ेगी, तब तक कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता। जीवन-विज्ञान का यही मूल

सिद्धांत रहा कि प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ चित्तशुद्धि की बात जुड़नी चाहिए। अर्थ-व्यवस्था, समाज और राज्य-व्यवस्था—इन सबको केवल निमित्त के आधार पर ही खड़ा किया गया, चित्त-शोधन की बात को भुला दिया गया।

सम्यक् दृष्टिकोण

संस्कृत का एक श्लोक है—

मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
मित्रवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः।।

स्त्री के प्रति क्या दृष्टिकोण होना चाहिए? स्त्री हो या पुरुष, सबकी स्वतंत्र सत्ता है। कोई भोग्य नहीं है और कोई भोक्ता नहीं हो सकता। जहां हम दूसरे की स्वतंत्र सत्ता पर प्रहार करते हैं, वहीं से हिंसा शुरू हो जाती है। एक नई दृष्टि दी गई कि तुम स्त्री को भोग्या मत मानो। ऐसा करने से तुम्हारा विकार नष्ट हो जाएगा। यदि व्यक्ति अभ्यास के द्वारा मातृवत् दृष्टिकोण का निर्माण कर लेता है तो उसके विकार समाप्त हो जाते हैं। आदमी संस्कार के साथ जीता है। नए संस्कारों का जन्म होता रहता है, किंतु जो वांछनीय संस्कार हैं, उनका निर्माण करना आवश्यक है। सम्यक् दृष्टिकोण यह है कि जगत के सारे प्राणी मेरे मित्र हैं। यह प्राणीमात्र के प्रति आत्मवत् दृष्टिकोण का निर्माण है। यह दृष्टिकोण बनना चाहिए कि सृष्टि में जितने प्राणी हैं, उनका स्वतंत्र अस्तित्व है। ऐसा होने से पदार्थवादी और भोगवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन संभव हो सकता है।

हमारा दृष्टिकोण अस्तित्ववादी दृष्टिकोण बने। सबका स्वतंत्र अस्तित्व है, कोई किसी के लिए नहीं है। हमें अपनी धारणाओं को पहले बदलना होगा, अपने दृष्टिकोण का परिष्कार करना होगा। हमारा दर्शन सम्यक् बनेगा तो ही अहिंसक समाज की रचना का कार्य आगे बढ़ेगा। हम हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया की मीमांसा करें। हमें सबसे पहले दृष्टिकोण को बदलना होगा। यह बात समझ में आएगी तो समस्या का समाधान हो पाएगा और स्वतंत्रता के सच्चे अर्थ भी हम समझ पाएंगे। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

पाश्चात्य विचारधारा में संकल्प की स्वतंत्रता का संकीर्ण अर्थ में केवल इहलोक के लिए प्रयोग हुआ है। जबकि भारतीय विचारधारा में आत्मशुद्धि के पश्चात् मनुष्य तीनों लोकों के लिए इच्छा की स्वतंत्रता को प्राप्त कर लेता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैदिक और वेदेतर—दोनों ही दार्शनिक विचारधाराओं की दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि नैतिकता की कसौटी पर व्यक्ति को तभी परखा जा सकता है जब उसे कर्म की स्वतंत्रता प्राप्त हो, अन्यथा व्यक्ति को उसके कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यक्ति कर्मपाशों से जकड़ा हुआ है, तथापि उसके जीवन में नैतिकता का आधार इच्छा-स्वातंत्र्य है। किसी भी प्रकार का बाह्य बल या विवशता नैतिक जवाबदेही का आधार नहीं हो सकती। क्योंकि भारतीय कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य में ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मस्वातंत्र्य की अवधारणा मानवीय जीवन में कर्म करने और नैतिक जीवन बिताने के लिए ही परिकल्पित की गई है। अतः ऐसे किसी भी कर्म को नैतिक स्तर पर उचित नहीं कहा जा सकता जो मानवीय स्वतंत्रता को कुंठित करता हो.

कर्मबंधन और आत्मस्वातंत्र्य : भारतीय दृष्टि

डॉ. संतोष आचार्य

भारतीय दार्शनिक दृष्टि से एक बार जब कर्म का बीज बो दिया जाता है तो उसकी फसल अखंड रूप से फलती-फूलती रहती है। मनुष्य एक कैदी की तरह अपने कृतकर्मों के कारागृह में कैद-सा रहता है। यहां तक की सृष्टि का संहार हो जाने पर भी कर्म बीजरूप में बना रहता है और जब पुनः नवसृष्टि की सर्जना होती है तो वही कर्मबीज फिर से अंकुरित होकर फल देने लगता है। इस बात की पुष्टि महाभारत में इन पंक्तियों से होती है—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्टयां प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्येन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।।[1]

तात्पर्य यह है कि पूर्व की सृष्टि में प्राणियों ने जो-जो कर्म किए होंगे, नवसृष्टि में ठीक उन्हीं कर्मों के फल व्यक्ति की इच्छा न होते हुए भी उसे यथापूर्व मिलते हैं। अतः यहां कर्म का यह नियम स्पष्ट होता है कि कर्म अपना फल प्रदान किए बिना समाप्त नहीं होता। वह फलित होने के लिए अगले जन्म तक तो क्या, अगली सृष्टि तक मनुष्य का पीछा करता रहता है। फलित होने के बाद ही कर्म का क्षय होता है।

कर्म के इस नियम को मानने का भारतीय दार्शनिक आधार यह है कि यदि कर्मवाद का उक्त नियम न मानें तो निम्नलिखित दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं—कृतप्रणाश और अकृताभ्युपगम।

कृतप्रणाश का तात्पर्य है कि जो कर्म व्यक्ति ने किए हैं उनके फल उसे नहीं मिलेंगे और अकृताभ्युपगम से तात्पर्य है कि जो कर्म मनुष्य ने नहीं किए, फिर भी उसके फल उसे प्राप्त होते हैं। यदि ऐसा हो जाता है तो सृष्टि-व्यापार में उथल-पुथल मच जाएगी और व्यक्ति का जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जाएगा। क्योंकि व्यक्ति कर्म-फलों के बंधन से स्वतंत्र हो जाएगा और उसके पास नैतिक नियमानुसार आचरण करने का कोई आधार नहीं

रह जाएगा। इसीलिए यह माना जाता है कि जब मनुष्य एक बार कर्मबंधन में पड़ जाता है, तब फिर आगे चलकर उसकी इस नामरूपात्मक देह के समाप्त हो जाने पर भी अपने कर्मफल भोग हेतु उसे पुनः इस कर्मभूमि पर उतरना पड़ता है। मनुस्मृति और महाभारत में यहां तक कहा गया है—'हे राजा! चाहे किसी आदमी को उसके पापकर्मों का फल उस समय मिलता हुआ न दीख पड़े, तथापि वह उसे ही नहीं, किंतु उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है।'[2] महाभारत के इस मत का आंशिक समर्थन करने वाले हेकेल जैसे आधिभौतिक पंडितों का तो यहां तक मानना है—'प्रत्येक मनुष्य को यह मालूम होता है कि नामरूपात्मक विनाशी स्वरूप से हमारी मुक्ति होनी चाहिए, अथवा अमुक काम करने से हमें अमृतत्व मिलेगा—यह सब केवल भ्रम है। आत्मा या परमात्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है और अमृतत्व भी झूठ है। इतना ही नहीं, किंतु इस संसार में कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से कुछ काम करने को स्वतंत्र नहीं है।'[3] इसी प्रकार भक्तिवादियों का भी यह कहना है कि मनुष्य अपने विवेकानुसार कर्म करने में स्वाधीन नहीं है, क्योंकि भगवान ने कहा है—**लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान्** (गीता 7/22)—अर्थात् भगवान ने जो सोचा है, वही इच्छित फल मनुष्य को प्राप्त होता है। उपरोक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे हम 'आत्मस्वातंत्र्य' या 'इच्छास्वातंत्र्य' कहते हैं, यह उस चिड़िया का नाम है जो माया और कर्मबंधनों के जाल में फंसा हुआ है और इस जाल को फैलाने वाला शिकारी स्वयं ईश्वर है। इस दृष्टि से आत्मस्वातंत्र्य पंगु प्रतीत होता है। लेकिन भारतीय दर्शन और नीति का यह निष्कर्ष पूर्णतया निर्दोष नहीं है। विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि आत्मस्वातंत्र्य को प्रतिबंधित करने वाला भक्तिवाद का उपरोक्त कथन पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि उक्त कथन केवल किसी विशेष संदर्भ के लिए ही प्रासंगिक है, अन्यथा साधारण परिस्थितियों में वहां मनुष्य की स्वातंत्र्य इच्छाशक्ति का सम्मान किया गया है। इस तथ्य की पुष्टि गीता के निम्नलिखित कथन से होती है—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।[4]

अर्थात् ईश्वर सबके लिए समान है। वह मनुष्यों के पाप-पुण्य को नहीं लेता, बल्कि कर्म या मायाचक्र चल रहा है, जिससे जीवमात्र को स्वकृत कर्मों का फल भोगना पड़ता है। गीता की उक्त मान्यता को वेदों में इस प्रकार प्रमाणित किया गया है—**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।**[5] अर्थात् जो मनुष्य थकने तक प्रयास करता रहता है, केवल उन्हीं की देवता मदद करते हैं। प्रयासहीन मनुष्य की देव सहायता नहीं करते। वेदों की इस मान्यता से प्रेरित होकर साधारणतया यह माना जाता है कि भगवान उन्हीं की सहायता करते हैं जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। अतः स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन और नीति में कर्म-बंधनों को तो माना गया है, लेकिन आत्मस्वातंत्र्य का भी सम्मान किया गया है।

इसी प्रकार आधिभौतिक-शास्त्रज्ञों का यह मत भी भारतीय दृष्टि से अमान्य है कि मनुष्यों को किसी भी प्रकार का स्वातंत्र्य प्राप्त नहीं है, क्योंकि यदि किसी कर्म को करने या न करने के लिए व्यक्ति आजाद नहीं है तो मानवीय जीवन में 'चाहिए' का संप्रत्यय व्यर्थ है। जब व्यक्ति स्वतंत्र इच्छाशक्ति से निर्णय लेने में असमर्थ है तो फिर उसे नीति के ये आदेश देना कि उसे अमुक कर्म करना चाहिए और अमुक कर्म नहीं करना चाहिए—फालतू है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य यदि ऐच्छिक निर्णय लेने में असमर्थ है, तो फिर यह कहना अप्रासंगिक और हास्यास्पद लगता है कि व्यक्ति को सदाचरण की पालना और दुराचरण का तिरस्कार करना चाहिए। साथ ही ऐसा मानने पर मनुष्य के लिए धर्म्य-अधर्म्य, नीति-अनीति, सही-गलत आदि से संबंधित विधि-निषेधशास्त्र के समस्त झगड़े स्वतः ही समाप्त हो जाएंगे। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य को पूर्णतया परावलंबी मानने के बाद उससे यह उम्मीद करना गलत है कि अमुक रीति से ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त करके अपनी बुद्धि को शुद्ध करना चाहिए। इस प्रकार यदि मनुष्य प्रकृति के परवश में ही है, तब तो—'मनुष्य की वही दशा होती है, जो कि नदी के प्रवाह में बहती हुई लकड़ी की हो जाती है। अर्थात् जिस ओर माया, प्रकृति, सृष्टिकर्म या कर्म का प्रवाह उसे खींचेगा, उसी ओर उसे चुपचाप चले जाना चाहिए। फिर चाहे उसमें अधोगति हो अथवा प्रगति'[6]।

लेकिन, भारतीय दर्शन और संस्कृति में मनुष्य की यह दुर्गति और परतंत्रता बरदाश्त नहीं है, क्योंकि भारतीय दार्शनिक दृष्टि से नामरूपात्मक माया, प्रकृति या समस्त

सृष्टि-व्यापार का जो आधारभूत मूल तत्त्व है, वही मनुष्य के शरीर में भी निवास करता है। इसलिए मनुष्य के कृतकर्मों का विचार दो दृष्टियों से करना चाहिए। एक तो उसकी देह-दृष्टि से, दूसरा उसकी आत्म-दृष्टि से। ऐसा करने पर यह तथ्य उजागर होता है कि मानवीय देह में निवासित आत्म-तत्त्व और परम-तत्त्व ब्रह्म—दोनों एक ही होने के कारण आत्मिक दृष्टि से मनुष्य का परतंत्र होना असंभव है। क्योंकि परतंत्र होने का तात्पर्य है एक का दूसरे के अधीन होना। वस्तुतः केवल ब्रह्म ही वह तत्त्व है जो निरपेक्ष रूप से स्वतंत्र और त्रैकालिक सत् है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। दिखाई देने वाला नामरूपात्मक कर्म या माया, जिसे अज्ञानवश दूसरा तत्त्व मान लिया जाता, मूल में यह उस परब्रह्म की ही अतर्क्य लीला है। वेदांत परंपरा की उक्त अवधारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को पूर्ण आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त है। यद्यपि यह सत्य है कि नामरूपात्मक कर्म या माया ने ब्रह्म के एक अंश को अवश्य आच्छादित कर लिया है, तथापि वह परब्रह्म पर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सकती, क्योंकि केवल ब्रह्म ही पूर्ण स्वाधीन सत्ता है। वह किसी अन्य सत्ता से आवरित नहीं हो सकता और दिखाई देने वाला आवरण स्वयं ब्रह्म का ही लीलाजाल है। वह स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति के द्वारा ही सृष्टि-सर्जना करने के लिए स्वयं को प्रकृति के द्वारा आवरित करता है और सृष्टि-वर्जन करने के लिए स्वयं ही इस आवरण को भेदता है। इस प्रकार उपनिषद् और वेदांत की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सृष्टि-सर्जना करना उस परम तत्त्व का स्वभाव है और जब उसका यह स्वभाव व्यवहार में परिणत होता है तब वह एक ही अनेक रूप में रूपांतरित हो जाता है। जो एक है उसका स्वाभाविक स्वरूप नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, अखंड और अनंत है। इस दृष्टि से उसी एक के अंशभूत अनेक का यथार्थ स्वरूप भी नित्य-मुक्त है, लेकिन शरीरेंद्रिय और कर्मपाश में जकड़ा होने के कारण यह अनेक जीवात्म परतंत्र प्रतीत होता है और जब व्यक्ति को यह अनुभूति होने लगती है कि दिखाई देने वाला अनेकत्व और वह एक अर्थात् उसका निजी आत्म-तत्त्व और वह परमात्म—दोनों अपृथक हैं, तब उस परमात्मा से मिलने के लिए व्यक्ति कर्मबंधनों को तोड़ने के लिए तड़पने लगता है।

ऐसी स्थिति में व्यक्ति का आत्म-तत्त्व उसे बंदी बनाने वाली देहेंद्रियों को मोक्षानुकूल कर्म करने के लिए उत्प्रेरित करता है। मनुष्य की इस आत्मिक प्रवृत्ति को भाप के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जिस प्रकार भाप जब खुली जगह में रहती है, तब उसका कुछ जोर नहीं चलता, परंतु वह जब किसी बर्तन में बंद कर दी जाती है, तब उसका दबाव उस बर्तन पर जोर से होता हुआ दिख पड़ने लगता है। ठीक इसी तरह जब परमात्म का ही अंशभूत जीव अनादि पूर्वकर्मार्जित जड़ देह तथा इंद्रियों के बंधनों में बंद हो जाता है, तब इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिए (मोक्षानुकूल) कर्म करने की प्रवृत्ति देहेंद्रियों में होने लगती है; और इसी को व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा की स्वतंत्र प्रवृत्ति कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से कहने का कारण यह है कि शुद्ध मुक्तावस्था में या 'तात्त्विक दृष्टि' से आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है, सब कर्तृत्व केवल प्रकृति का है।'[7] यहां स्पष्ट है कि हमारी आत्मा मूल रूप से स्वतंत्र है और उस परमतत्त्व से अभिन्न है, लेकिन प्रकृतिजनित अज्ञान के कारण ब्रह्म का अंश जीव स्वयं को परमतत्त्व से भिन्न रूप जानकर स्वयं को कर्म-बंधनों में डालता है, लेकिन ज्ञान के द्वारा वह पुनः अपने मौलिक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, कर्म के द्वारा जीव बांधा जाता है और विद्या के द्वारा वह कर्म-बंधनों से स्वतंत्र हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है। उसके सम्मुख सदैव दो विकल्प रहते हैं—एक तो उसका आत्म-तत्त्व हमेशा उसे ब्रह्मरूपी नदी की ओर प्रवाहित करता रहता है, दूसरा अज्ञान के कारण उसका अहम् उसे कर्मपाश रूपी कुएं में ढकेलता रहता है। इन दोनों में से वह केवल किसी एक का चुनाव कर सकता है और यह चुनाव करने के लिए वह पूर्ण स्वाधीन है। किसी भी प्रकार का दैव या उसके पूर्वकृत कर्म उसके इस स्वतंत्र पथ में रोड़ा नहीं अटकाते। हां, यह अवश्य सत्य है कि सम्यक् बुद्धि के द्वारा जब वह प्रथम विकल्प का चयन करके यह सुनिश्चित कर लेता है कि यह उसका चरम लक्ष्य है, तब उसे अपने पूर्वकृत कर्मों या प्रारब्धकर्मों का क्षय करना पड़ता है और वर्तमान में सकाम कर्म करने की प्रवृत्ति को त्यागना पड़ता है। इसीलिए वेदांत और सांख्य—दोनों में यह स्पष्ट

किया गया है कि ज्ञानी पुरुष को ज्ञान प्राप्ति के बाद स्वाभाविक मृत्यु का इंतजार करना चाहिए अर्थात् जन्म के साथ ही प्रारंभ हुए कर्मों का क्षय करना चाहिए, तभी वह पूर्ण आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त कर सकता है। अन्यथा यदि वह जिद् से शरीर त्याग करता है तो ज्ञान द्वारा अनारब्धकर्मों का क्षय हो जाने पर भी उसके प्रारब्ध कर्मफलों का भोग शेष रह जाता है और उन्हें भोगने के लिए उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है (वेदांत सूत्र 4/1.13.15, सांख्य.का. 67)। इस प्रारब्ध प्रतिबंधक के अतिरिक्त हठवश आत्महत्या करना एक नवीन कर्म हो जाता है, जिसका फल भुगतने के लिए उसे पुनः जन्म लेने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार करने और भरने का यह सिलसिला लगातार, बिना रुके चलता रहता है। अतः आत्महत्या करना भारतीय कर्मशास्त्र के दृष्टिकोण से एक भयंकर भूल है। आत्मस्वातंत्र्य पथ की उक्त बाधाओं से निपटने के लिए ही भारतीय दर्शन में यह माना जाता है कि यद्यपि ज्ञान के द्वारा व्यक्ति पूर्ण आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त कर सकता है, तथापि उसे अपने प्रारब्ध कर्मों का क्षय और नवीन कर्मार्जन की प्रवृत्ति को त्यागना अनिवार्य है। ऐसा तभी संभव है जब वह निष्काम भाव से कर्म करे। निष्काम भाव द्वारा कर्म करने से वह स्वतः ही कर्मबंधनों से निकलकर आत्मस्वातंत्र्य का अधिकारी बन जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य स्वयं अपने प्रयास द्वारा कर्मों के चक्रव्यूह से मुक्त होने के लिए स्वतंत्र है। इसलिए गीता में भगवान ने अर्जुन को यह उपदेश दिया कि—

उद्धरेदात्मनात्मनं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।[8]

यहां भाव यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना उद्धार स्वयं ही करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य स्वयं अपना ही हितैषी और विनाशक है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य दैव का दास नहीं, बल्कि पुरुषार्थ द्वारा दैव पर भी विजय प्राप्त करने में पूर्ण सक्षम और स्वतंत्र है। मनुष्य की इसी स्वातंत्र्य शक्ति का उल्लेख करते हुए उपनिषदों में कहा गया है—'मनुष्य अपने-आप को अपने ही बंधन में डालता है। जैसे एक पक्षी स्वयं ही अपने लिए घोंसला बनाता है।'[9]

स्पष्ट है कि मनुष्य अपने ही प्रयास द्वारा अपनी अवस्थाओं को यथेष्ट रूप से परिणत कर सकता है। वस्तुतः वैदिक दार्शनिक परंपरा के अनुसार स्वतंत्रता आत्मा का स्वभाव है, क्योंकि समस्त कर्म, चाहे वे शारीरिक हों या मानसिक, जड़ हैं, वे अपने-आप संपादित नहीं हो सकते। उनके संचालन के लिए किसी चेतन सत्ता की आवश्यकता है और वह चेतन सत्ता आत्मा है, जो सभी कर्मों का संचालक है। यह चेतन आत्मा, जो शरीर में रहकर कर्मों का संचालन करता है, परब्रह्म का ही एक रूप है। अतः उसे स्वभावतः स्वतंत्रता प्राप्त होती है। उसकी इसी स्वाभाविक स्वतंत्रता से ही उसे संकल्प की स्वतंत्रता भी प्राप्त होती है, जिससे विभिन्न शुभाशुभ कार्य संपन्न होते हैं।

संकल्प-स्वातंत्र्य सिद्ध करने के लिए ही छांदोग्य उपनिषद् में मनुष्य को स्वभाव से 'क्रतुमय' या कर्मशील बताकर कर्म करने की प्रेरणा दी गई है, उससे कर्म करने में मनुष्य की स्वतंत्रता ही परिलक्षित होती है। इसी संदर्भ में गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से—'मैंने यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान तुम से कह दिया। अब तू इस रहस्यमय ज्ञान को पूर्णतया भली-भांति विचार कर, जैसे चाहता है वैसे ही कर'।[10] इस सूत्र में कर्म-स्वातंत्र्य से संबंधित दो महत्त्वपूर्ण बातें उजागर होती हैं। पहले तो यहां भली-भांति विचार कर, ऐसा कह कर जिस विवेक-शक्ति की चर्चा की गई है, वह मनुष्य का विशिष्ट लक्षण है। जिसके द्वारा मनुष्य किसी कर्म के औचित्य और अनौचित्य का विचार कर सकता है और इसी कारण उसका नैतिक उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। इस प्रकार यहां मनुष्य की स्वातंत्र्यशक्ति का भाव पूर्ण पुष्ट हो जाता है। क्योंकि सूत्र में—'यथेच्छसि तथा कुरु'—अर्थात् 'जैसा चाहता है वैसा कर'—यह आदेश दिया गया है और यदि मनुष्य ऐसा करने में स्वतंत्र न हो तो यह कहने का कोई तात्पर्य नहीं रह जाता।

यहां वैदिक विचारधारा के साथ-साथ वेदेतर दार्शनिक विचारधारा पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि बौद्ध-धर्मी यद्यपि आत्मा या ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, तथापि उनके धर्मग्रंथों में यह उपदेश दिया जाता है कि—

अत्ता (आत्मा) हि अत्तनोनाथो अत्ता हि अत्तनो गति तस्मा सञ्जमयऽत्ताणं अस्सं (अश्वं) भद्दं व वाणिजो[11]

अर्थात् हम ही खुद अपने मालिक हैं और आत्मा के सिवा हमें तारने वाला कोई अन्य नहीं है। इसलिए स्वयं

अपना संयमन उसी प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़ों का संयमन करता है।

इसी संदर्भ में जैन दर्शन पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि वहां भी यह माना गया है कि जीवात्मा अनादिकाल से कर्म-परंपरा में उलझा हुआ है। जीव के पूर्व-कर्मों के भोग और नव-कर्मों के बंध का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। मनुष्य स्वयं के कृत-कर्मों को भोगता है और नवीन कर्मों का अर्जन करता जाता है, लेकिन कर्मफलों का भोग और उनके बंधन की अनादि धारा बिना रुके प्रवाहित होते हुए भी जैन दर्शन ऐसा कतई स्वीकार नहीं करता कि जीवात्मा पूर्णतया कर्माधीन है। क्योंकि यदि जीवात्मा का प्रत्येक संकल्प कर्माधीन ही माना जाएगा तो आत्मस्वातंत्र्य का कोई मूल्य नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में मनुष्य की सभी क्रियाएं केवल कर्ममूलक होने से मनुष्य का न स्वयं पर कोई अधिकार होगा और न अन्यों पर। इस प्रकार व्यक्ति का संपूर्ण आचार-व्यवहार यांत्रिक या स्वतः संचालित हो जाएगा। मनुष्य एक कठपुतली बन कर रह जाएगा। जिससे उसके पुराने कर्म स्वतः अपना फल देते रहेंगे और वर्तमान में वह नव-कर्मार्जन करता रहेगा, जो पुनः भविष्य में अपना फल स्वतः ही प्रदान करते हुए कर्म-परंपरा को एक स्वचालित मशीन के समान बराबर आगे बढ़ाते रहेंगे। इस प्रकार व्यक्ति का भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल कर्माधीन हो जाएंगे। जिसके परिणामस्वरूप कर्मवाद नियतिवाद का ही समानार्थक हो जाएगा और आत्मस्वातंत्र्य की धारणा धूमिल हो जाएगी। इसीलिए जैन दर्शन में कर्म-परंपरा को अनिवार्य मानते हुए आत्मस्वातंत्र्य को भी सम्मान दिया गया है।

वस्तुतः आत्मस्वातंत्र्य की धारणा जैन दर्शन में ही अपना पूर्ण परिपक्व रूप धारण करती है, क्योंकि यहां आत्मस्वातंत्र्य को संरक्षित रखने के लिए ही आत्मा को ईश्वर या किसी पराप्राकृतिक सत्ता की शक्ति से मुक्त माना गया है। जैन विचारधारा की इस धारणा की पुष्टि आचारांग सूत्र में की गई है। वहां आत्मा के स्वतंत्र वजूद को बनाए रखने के लिए सभी आत्माओं का अस्तित्व पृथक-पृथक स्वीकार करते हुए ग्रंथकार ने आत्मा को ईश्वर और ब्रह्म के शिकंजे से स्वतंत्र माना है। इस प्रकार जैन दृष्टि से आत्मा न ईश्वर का अंश है और न ही ब्रह्म का प्रपंच है, बल्कि आत्मा इनसे पृथक स्वतंत्र अस्तित्ववान सत्ता है। अतः स्पष्ट है कि जैन विचारधारा में आत्मा ईश्वर, दैव (भाग्य) या किसी भौतिक नियमानुसार कर्म नहीं करता, बल्कि अपने कर्तव्य का कर्ता स्वयं आत्मा है। इस दृष्टि से आत्मा के स्वाधीन और पराधीन या बंध और मोक्ष—दोनों विरोधी तत्त्व हैं। इन दोनों का एक साथ समावेश किसी एक तत्त्व में कैसे संभव है? जैनागमों में इस बाधा का निराकरण अनेकांतवाद द्वारा किया गया है। अनेकांत दृष्टि से विवेचन करें तो यह स्पष्ट होता है कि निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा कर्तृत्व, भोक्तृत्व और बंध-मोक्ष से परे पूर्ण स्वाधीन सत्ता है। लेकिन, व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा कर्मों की कर्ता और भोक्ता होने के कारण पूर्ण स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसकी पुष्टि के लिए जैन दर्शन में आया है—'वस्तुतः देखा जाए तो आत्मा बंध और मोक्ष से ऊपर है। कर्मयुक्त आत्मा की रागात्मक प्रवृत्ति बंधन का हेतु है, व ज्ञाता-द्रष्टा प्रवृत्ति मोक्ष का हेतु बनती है। इसलिए बंध आत्मकृत है, व आत्मा ही प्रमोक्ष का हेतु बनती है। क्योंकि वह ज्ञाता-द्रष्टा होने से कर्मों की विकर्त्ता है।'[12]

इस प्रकार जैन दार्शनिक दृष्टि से, नैश्चयिक दृष्टि से आत्मा संसार और कर्मबंधन से स्वतंत्र मुक्तात्मा है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा कर्मबंधनों और संसार चक्र में आवागमित होने वाली संसारी आत्मा है। प्रथम, आत्मा जो मुक्तात्मा है, वह अनंतचतुष्टय (अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य) युक्त होती है, लेकिन यह अनंतचतुष्टय संसारी आत्मा में अपने पूर्णरूप में वर्तमान नहीं होता, परंतु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि संसारी आत्मा अनंतचतुष्टय को प्राप्त नहीं कर सकता। वस्तुतः जैन दृष्टि से आत्मा अनादि कर्मप्रवाह में बहते हुए भी इस प्रवाह को तैरकर अनंतचतुष्टय अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है।

इसीलिए माना जाता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्म के क्षय से क्रमशः अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य का प्रादुर्भाव होता है।[13]

अतः जैन दार्शनिक दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि बंधन और मोक्ष का हेतु स्वयं आत्मा का स्वतंत्र संकल्प है। क्योंकि पुरुषार्थ की सिद्धि तभी होती है जब बंधन और मोक्ष की शक्ति आत्मा में अंतर्निहित हो। इसीलिए आचारांग के सूत्रकार ने यह निर्देश दिया है—'पुरिसा!

परमचक्खू! विपरक्कमा'[14]। अर्थात् यदि आत्मा स्वकृत बंधन को तोड़कर स्वयं स्वतंत्र होने में सक्षम नहीं है तो फिर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा निरर्थक है। इसी प्रकार आधिभौतिक फ्रेंच पंडित कांट भी यद्यपि किसी भी प्रकार के अध्यात्मवाद को नहीं मानते, तथापि वे यह स्वीकार करते हैं—'प्रत्येक कर्म की शुभता की सीमा उसमें निहित इच्छा ही है और वह इच्छा अथवा संकल्प करने के लिए मनुष्य स्वतंत्र है।[15] इसलिए नीतिशास्त्र में उनका यह कथन प्रसिद्ध है—'मुझे करना चाहिए अतः मैं करता हूं।' कर्मबंधन और आत्मस्वातंत्र्य के इस विषय की यदि पाश्चात्य दार्शनिक संदर्भ में विवेचना करें तो हम यह देखते हैं कि पाश्चात्य नीतिशास्त्र में मनुष्य को अपने कर्म करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र तभी माना जा सकता है जब निम्नलिखित तीन शर्तों को पूरा कर लिया जाय— 1. कर्म करने की क्षमता, 2. ज्ञान का उद्देश्य, 3. विकल्पों की उपस्थिति।

अर्थात् मनुष्य अपने कर्म करने के लिए पूर्ण रूप से तभी स्वतंत्र है जब उसमें प्रथम, कर्म करने की क्षमता हो, अर्थात् वह शारीरिक व मानसिक रूप से कर्म करने के लिए सक्षम हो। दूसरे, क्षमता होने के बाद भी उसके कर्म सुविचारित व सोद्देश्य हों—इन दोनों शर्तों के बाद भी विकल्प का उपस्थित होना अनिवार्य है। भारतीय दार्शनिक दृष्टि से देखें तो इच्छा-स्वातंत्र्य के लिए 'आत्मज्ञान' एक ही अनिवार्य शर्त है। इसीलिए उपनिषदों में कहा जाता है कि 'वास्तविक स्वतंत्रता आत्मानुभूति से पहले मनुष्य का अधिकार नहीं हो सकती, फिर भी हम यह कह सकते हैं कि आत्मानुभूति के बाद वह मनुष्य का अधिकार हो सकती है।'[16] यहां एक बात और स्पष्ट होती है कि पाश्चात्य नैतिक दर्शन में मनुष्य को उसके साधारण लौकिक जीवन या व्यवहार के लिए ही स्वतंत्र माना गया है। पारलौकिक या परमार्थ के लिए ऐसा विधान नहीं है, जबकि औपनिषदिक दृष्टि से मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतंत्र अपने यथार्थ स्वरूप ब्रह्म में अवस्थित होने के बाद ही हो सकता है, या आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपरांत वह संकल्प के लिए स्वतंत्र होता है। इसकी पुष्टि हेतु छांदोग्य उपनिषद में बताया गया है कि हमारे लिए समस्त लोकों में स्वतंत्रता आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही मिल सकती है। फिर व्यक्ति कोई भी वस्तु, जिसे वह चाहे, प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार प्रकृति के ऊपर मनुष्य के संकल्प के प्रभाव को उपनिषद प्रभावित करते हैं, जिसका उद्गम आत्मज्ञान है। व्यावहारिक जीवन में थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता मान भी लें तो वह इस शब्द के परिपूर्ण अर्थ में स्वतंत्र नहीं है। पाश्चात्य विचारधारा में संकल्प की स्वतंत्रता का संकीर्ण अर्थ में केवल इहलोक के लिए प्रयोग हुआ है। जबकि भारतीय विचारधारा में आत्मशुद्धि के पश्चात् मनुष्य तीनों लोकों के लिए इच्छा की स्वतंत्रता को प्राप्त कर लेता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैदिक और वेदेत्तर—दोनों ही दार्शनिक विचारधाराओं की दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि नैतिकता की कसौटी पर व्यक्ति को तभी परखा जा सकता है जब उसे कर्म की स्वतंत्रता प्राप्त हो, अन्यथा व्यक्ति को उसके कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यक्ति कर्मपाशों से जकड़ा हुआ है, तथापि उसके जीवन में नैतिकता का आधार इच्छा-स्वातंत्र्य है। किसी भी प्रकार का बाह्य बल या विवशता नैतिक जवाबदेही का आधार नहीं हो सकती। क्योंकि भारतीय कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य में ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मस्वातंत्र्य की अवधारणा मानवीय जीवन में कर्म करने और नैतिक जीवन बिताने के लिए ही परिकल्पित की गई है। अतः ऐसे किसी भी कर्म को नैतिक स्तर पर उचित नहीं कहा जा सकता जो मानवीय स्वतंत्रता को कुंठित करता हो।

इसका कारण यह है कि भारतीय दार्शनिक परंपरा में स्वतंत्रता को आत्मा की मूल प्रवृत्ति और उसका स्वाभाविक स्वरूप माना गया है। इसी आधार पर डॉ. नन्दकिशोर आचार्य का यह मानना है कि—'दरअसल स्वतंत्र हो सकने में ही हमारे मनुष्य हो सकने की सारी संभावनाएं निहित हैं, क्योंकि स्वतंत्र हुए बिना सर्जनशील होना संभव नहीं और मनुष्य होने का अनिवार्य लक्षण सर्जनशील होना है।'[17] यहां स्वतंत्रता को मनुष्य का अनिवार्य लक्षण माना गया है और आत्मिक दृष्टि से यह बात पूर्ण सत्य भी है, क्योंकि आत्मिक दृष्टि से स्वाधीनता मनुष्य का यथार्थ स्वरूप है। उसकी यह स्वतंत्रता कर्मबंधनों के कारण आवरित हो सकती है, लेकिन कर्मपाशों को तोड़कर मनुष्य अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप, उस परमात्मा, को प्राप्त करने में पूर्ण स्वतंत्र है। इसलिए यह माना जाता है कि 'नर करनी तो नारायण हो जाय।' ❖

शेष पृष्ठ 38 पर

जब हम मानवमूल्यों और मर्यादाओं की बात करते हैं तो उसका संबंध मानव से होता है और उनके कल्याण और हित को ध्यान में रखकर उनकी बात की जाती है। अच्छी जलवायु वह है जिसमें रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणु नहीं हों। अतः ऐसी जलवायु अच्छी होगी जो मानव के लिए कल्याणकारी हो और जिसमें उसकी वृद्धि हो सकती है। मानवमूल्य वही है जो मानवजीवन के लिए मूल्यवान हो। पशुजीवन के लिए भी जो मूल्यवान है वह उपयोगिता और प्रेम की दृष्टि से मानवजीवन के लिए कल्याणकारी हो सकता है।

अतः इस बात को समझ लिया जाए कि जब हम मूल्यों की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य मानव के लिए कल्याणकारी मूल्यों से है। इस बात में मतभेद हो सकता है कि मानव-प्राणी के लिए क्या कल्याणकारी है। मानव-शरीर की बनावट, शरीरविज्ञान, स्नायुविज्ञान, मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञानों की सहायता से हम यह जान सकते हैं कि मानव-प्राणी के लिए कल्याणकारी मूल्य कौनसे हैं।

स्वतंत्रता : मानवमूल्य; सकारात्मक प्रतिक्रिया

वी.एम. तारकुण्डे

मौलिक मानववाद स्वतंत्रता को आधारभूत मानवमूल्य अथवा मर्यादा मानता है। अन्य सभी मानवमूल्य विवेकानुसार उसी से उद्भूत होते हैं। इस अर्थ में स्वतंत्रता सभी मानवमूल्यों का मूल आधार है।

मौलिक मानववाद संसार में मनुष्य और उसके अन्य मनुष्यों से संबंध और उसके स्थान को समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उत्पन्न हुआ है। हमारे इस कथन से कि स्वतंत्रता मानवजीवन का आधार-भूत मूल्य है और वह सभी मानवमूल्यों का स्रोत है, यह प्रश्न उठता है कि क्या मानवमूल्यों का भी कोई विज्ञान हो सकता है अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर मानवमूल्य विकसित किया जा सकता है?

स्वतंत्रता दिवस पर विशेष

विज्ञान और मानवमूल्य

जो लोग यह मानते हैं कि विज्ञान और मानवमूल्य दो भिन्न श्रेणियों में आते हैं और उनका कोई पारस्परिक प्रभाव नहीं पड़ता है, उनका कहना है कि वैज्ञानिक फैसले किसी वस्तु के अस्तित्व में होने अथवा न होने के आधार पर किए जाते हैं और मानवमूल्यों के फैसले अच्छाई और बुराई और 'क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए' के आधार पर किए जाते हैं। विज्ञान के द्वारा आप उससे उत्पन्न तथ्य जान सकते हैं, लेकिन मानवमूल्य के संबंध में ऐसा अनुमान नहीं निकाला जा सकता है। किसी के अस्तित्व में होने अथवा न होने से उसके अच्छा अथवा बुरा होने का फैसला नहीं किया जा सकता। अतः विज्ञान मानवमूल्यों के संबंध में कुछ भी नहीं कर सकता।

इस द्वैत विचारतथ्य और मानवमूल्यों के द्वैत के आधार पर कहा जाता है कि विज्ञान को मानवमूल्यों से मुक्त रहना चाहिए। सभी विज्ञानों के संबंध में इस दृष्टिकोण को अपनाने की बात कही जाती है—जिनमें

समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों को सम्मिलित माना जाता है। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाए तो उससे अजीब निष्कर्ष निकलेंगे। इसका यह अर्थ होगा कि चिकित्सा विज्ञान इस निष्कर्ष पर तो पहुंचे कि संतुलित आहार से स्वास्थ्य अच्छा रहता है, लेकिन वह यह न कहे कि मनुष्य को संतुलित आहार लेना चाहिए। चिकित्सा विज्ञान मानव-स्वास्थ्य का अध्ययन तथ्यात्मक आधार पर करे, लेकिन उसमें मानवमूल्य का ध्यान न रखे। इसी प्रकार राजनीति विज्ञान लोकतंत्र की परिभाषा करे और उसकी सफलता के लिए आवश्यक बातों का विश्लेषण करे, लेकिन वह अन्य राजनीतिक संगठनों की तुलना में लोकतंत्र की अच्छाइयां न बताए।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण को मानवमूल्यों से मुक्त रखने की बात एक भ्रांति है। मानवमूल्य मानव के लिए कल्याणकारी और लाभकारक होता है। यह प्रश्न उठता है कि मानवमूल्य किसके कल्याण और किसके हित में है? मानवमूल्य का संबंध जीवित प्राणी से है और उसकी सार्थकता मानव-व्यक्ति के लिए है। आप यह कह सकते हैं कि कुछ बातें पेड़-पौधों और पशुओं के लिए लाभकारी हो सकती हैं, लेकिन पहाड़ और नदियों के लिए नहीं। शिकार करने वाले पशुओं के लिए यह लाभजनक होगा कि संसार में ऐसे पशु हों जिनका वह शिकार कर सकें और उन्हें खा सकें, लेकिन उन निरीह पशुओं के लिए यह लाभकारी नहीं होगा कि वे शिकार करने वाले पशुओं के पास रहें।

जब हम मानवमूल्यों और मर्यादाओं की बात करते हैं तो उसका संबंध मानव से होता है और उनके कल्याण और हित को ध्यान में रखकर उनकी बात की जाती है। अच्छी जलवायु वह है जिसमें रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणु नहीं हों। अतः ऐसी जलवायु अच्छी होगी जो मानव के लिए कल्याणकारी हो और जिसमें उसकी वृद्धि हो सकती है। मानवमूल्य वही है जो मानवजीवन के लिए मूल्यवान हो। पशुजीवन के लिए भी जो मूल्यवान है वह उपयोगिता और प्रेम की दृष्टि से मानवजीवन के लिए कल्याणकारी हो सकता है।

अतः इस बात को समझ लिया जाए कि जब हम मूल्यों की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य मानव के लिए कल्याणकारी मूल्यों से है। इस बात में मतभेद हो सकता है कि मानव-प्राणी के लिए क्या कल्याणकारी है। मानव-शरीर की बनावट, शरीरविज्ञान, स्नायुविज्ञान, मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञानों की सहायता से हम यह जान सकते हैं कि मानव-प्राणी के लिए कल्याणकारी मूल्य कौनसे हैं।

विभिन्न प्रकार के मानवमूल्य हैं। कुछ का संबंध सफाई और तापमान से होता है जो मानव-प्राणी के जीवन के लिए आवश्यक हैं और दूसरे मूल्यों का संबंध स्वविवेक, साहस और कार्य करने के सामर्थ्य से होता है जो व्यक्ति के जीवन की सफलता से संबंधित होते हैं। तीसरी श्रेणी के मूल्यों में दया, ईमानदारी, सत्य आदि गुण हैं जो मनुष्य के सामाजिक जीवन में सहयोग की प्रवृत्ति के लिए आवश्यक हैं। अंतिम श्रेणी के गुणों को नैतिक मूल्य कहा जाता है।

विभिन्न प्रकार के मूल्यों का महत्त्व इसलिए है कि वे मानवजीवन के अस्तित्व के लिए मूल्यवान हैं। सफाई और तापमान, स्वविवेक और साहस, दया और ईमानदारी आदि सभी मानवजीवन के अस्तित्व के लिए कल्याणकारी हैं। कोई भी मूल्य अपने-आप में अच्छा नहीं है, जब तक उसका संबंध मानव के कल्याण से न हो। जब हम यह कहते हैं कि मूल्य तभी सार्थक हैं जब वे मानवकल्याण के मूल्य हों तो उसका अर्थ यही होगा कि मानव-व्यक्ति ही मौलिक मूल्य है।

अस्तित्व की आकांक्षा ही समस्त जीवों की मौलिक आकांक्षा होती है। जीवजगत के हिस्से के रूप में मानव-व्यक्ति की भी जीवित रहने की आकांक्षा होती है। मानवजीवन और अस्तित्व की आकांक्षा को जीवगत तथ्यों के वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार विज्ञान और मूल्यों की द्वैत भावना समाप्त हो जाती है, जब यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवजीवन के अस्तित्व की आकांक्षा तथ्य और मानवमूल्य, दोनों ही हैं।

मानव-प्राणी की यह आकांक्षा है कि वह मानव के रूप में जीवित रहे। मानव-जीवन से हीन जीवन में यदि उसे निरंतर रखा जाएगा तो वह मर जाएगा। मौलिक मानववाद के अनुसार मानव-प्राणियों की आकांक्षा स्वतंत्रता की आकांक्षा का सार है। अतः स्वतंत्रता मौलिक मानवमूल्य है जो सभी मानवीय मूल्यों का आधार है।

स्वतंत्रता की कल्पना

स्वतंत्रता का अर्थ है बंधनहीनता। स्वतंत्रता का अर्थ है कि सभी प्रकार के प्रतिबंध धीरे-धीरे समाप्त हो जाएं और मानव की क्षमताओं को प्रतिबंधों से मुक्त कर उसे विकास का अवसर मिले।

राजनीतिक क्षेत्र में और राज्य के क्षेत्र में स्वतंत्रता का अर्थ कुछ मौलिक अधिकारों का उपभोग है, जैसे सूचना प्राप्त करने का अधिकार और अपना मत व्यक्त करने का अधिकार, संगठन बनाने और मजदूर संघ (ट्रेड यूनियन) और राजनीतिक दल बनाने का अधिकार, सभा करने और जुलूस निकालने का अधिकार। इसका यह भी अर्थ है कि उसके विरुद्ध मनमाने ढंग से शक्ति का प्रयोग न किया जाए, जो नियमानुसार कानून के परिपालन का सार तत्त्व है। इसके अतिरिक्त एक और मौलिक अधिकार है। और वह है व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से अपना विचार रखने का अधिकार, किसी भी धर्म को मानने अथवा न मानने और अपने विचारों का प्रचार करने का अधिकार।

सामाजिक क्षेत्र में स्वतंत्रता का अर्थ है तर्कहीन परंपराओं और रूढ़ियों का अभाव। उसका संबंध विवाह, तलाक, पिता और अभिभावक के संबंध और पति-पत्नी के संबंधों से भी है। युवकों और पुरुषों के संबंध, विभिन्न जातियों और समुदायों के संबंध भी इस क्षेत्र में आते हैं। कुछ लोगों में सामाजिक प्रतिबंधों से व्यक्ति-स्वतंत्रता में काफी सीमा तक बाधा पड़ती है जितनी राजनीतिक प्रतिबंधों से भी नहीं पड़ती। सामान्य रूप से राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबंध साथ-साथ रहते हैं। अधिनायकवादी समाज में अधिनायकवादी राज्यसत्ता स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है।

स्वतंत्रता की भावना को केवल राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में सीमित नहीं रखा जा सकता। व्यक्ति की समानता के लिए यह आवश्यक है कि उसे आर्थिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता हो। उसे अभाव और आर्थिक असुरक्षा से भी मुक्त रहने की आवश्यकता है। वह भुखमरी के भय से भी मुक्ति चाहता है। स्वतंत्रता की यह परिभाषा ऊपर की जा चुकी है कि स्वतंत्रता का अर्थ सभी प्रतिबंधों से मुक्ति और व्यक्ति की क्षमताओं के विकास का अवसर प्रदान करना है। स्वतंत्रता की इस भावना के लिए आर्थिक स्वतंत्रता होना जरूरी है। आर्थिक अभाव और असुरक्षा की भावना मानव की क्षमता को विकसित करने में वैसे ही बाधक है जैसे कि वह राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबंधों से होती है।

इस प्रकार के विचार से स्वतंत्रता नकारात्मक भावना नहीं रहती। उसका अर्थ है कि व्यक्ति के ऊपर ऐसे प्रतिबंध न हों और व्यक्ति को ऐसा जीवनस्तर प्राप्त करने का अवसर मिले, जिससे उसकी क्षमताओं का विकास हो सके। स्वतंत्रता का अभिप्राय व्यक्ति को इस योग्य बनाना है, जिसमें वह पूरी तरह से मानव-प्राणी का पूरा जीवन प्राप्त कर सके।

अन्य प्राणियों की भांति मानव भी निरंतर अस्तित्व के संघर्ष में लगा रहता है। प्रारंभिक स्थिति में मानव को प्रतिकूल परिस्थितियों और प्रकृति की क्रूरता से संघर्ष करके अपने जीवन को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता था। उसे अपने लिए भोजन प्राप्त करने और अपने जीवन की रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ता था। उसे अधिक गर्मी और सर्दी से अपनी रक्षा करनी पड़ती थी। सूखे की स्थिति और बाढ़ के प्रकोप से, जंगली जानवरों और शिकारी जानवरों से अपनी रक्षा करने के लिए साधनों को प्राप्त करना पड़ता था। लेकिन, उस समय वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा ऊंचे स्तर का जीवन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। वह अपनी भावनाओं और आत्मचेतना की रक्षा करने के लिए भी चिंतित रहता था। वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए औजार बनाने का प्रयत्न करता था, भांड और बर्तन भी बनाने का प्रयत्न करता था। जहां वह रहता था, उन कंदराओं में रंगों का प्रयोग करके भित्तिचित्र भी बनाता था। उसका जीवन के लिए अपना संघर्ष सदैव स्वतंत्रता के लिए भी संघर्ष था। आज भी वह स्वतंत्रता के लिए अपने संघर्ष में भिन्न रूपों में लगा हुआ है जो प्राचीन पाशविक युग और सभ्यता के युग की संक्रांति के बाद से निरंतर चल रहा है। मानव का स्वतंत्रता के लिए संघर्ष प्राणी जगत के अस्तित्व के संघर्ष का वह रूप है जो मानव बुद्धि, भावना और आत्म-चेतना के पहले से ऊंचे स्तर में आने के बाद भी जारी रख रहा है। प्राणी जगत के लिए जिस प्रकार अस्तित्व का संघर्ष आधारभूत था, वैसे ही मानव-जीवन के लिए स्वतंत्रता का संघर्ष उसके लिए आधारभूत है।

यही कारण है कि शब्दकोष में 'स्वतंत्रता' का शब्द सबसे अधिक भावनात्मक है। स्वतंत्रता के विचार के समान दूसरा कोई अन्य विचार सकारात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करता है। सभी मानवों की इच्छा मानव की भांति जीवित रहना है और उन की इस इच्छा में स्वतंत्रता का विचार सम्मिलित है।

स्वतंत्रता का अर्थ धीरे-धीरे सभी प्रतिबंधों का नष्ट होना है जो उसकी व्यक्तिगत क्षमता के विचार में विवेकशील मानव के जीवन को प्राप्त करने के मार्ग में बाधक है। मानव स्वेच्छा से ऐसे प्रतिबंधों को स्वीकार कर लेता है जो सार्वजनिक हित में लगाए जाते हैं। स्वतंत्रता केवल विवेकशील मानव ही भोग सकता है। फिर भी क्योंकि स्वतंत्रता आधारभूत मानवमूल्य है, अतः किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता पर तब तक प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए जब तक वे दूसरे मानव-व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आवश्यक न हों। समानता का अर्थ सभी व्यक्तियों के लिए स्वतंत्रता की समानता है। यही कारण है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केवल तर्कसंगत और विवेकजन्य ऐसे प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं जिनसे सभी व्यक्तियों की समानता सुरक्षित की जा सके। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा
बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

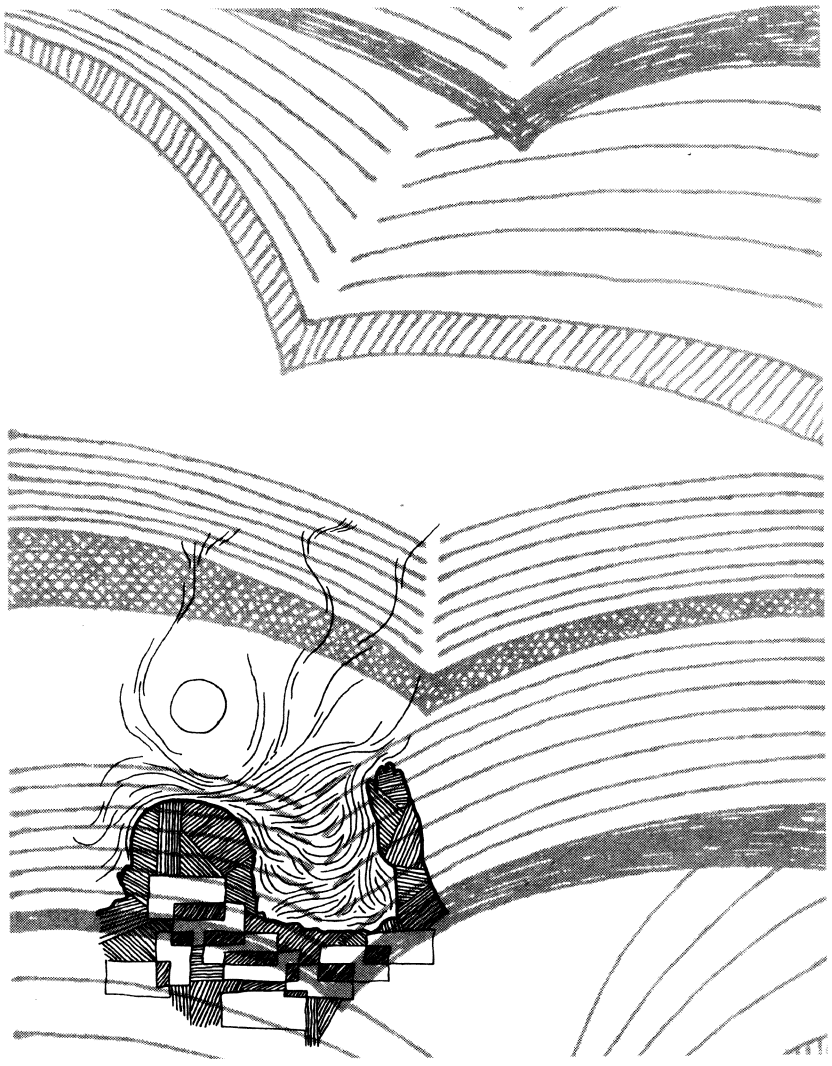

अनुभूति

मैं साम्य का गीत गाता हूं।
मनुष्य से बड़ा और उदात्त कोई नहीं है।
देश, काल और परिस्थितियों का भेद कहीं
नहीं है—
मानव-समाज को धर्म की दृष्टि से विभाजित
नहीं किया जा सकता
क्योंकि सर्वत्र, सब काल में, घर-घर में
ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति का परम आत्मीय है।

—काज़ी नज़रुल इस्लाम

समाज का वहीं से आरंभ है जहां व्यक्ति की सीमा है। सीमा पर दोनों का एक-दूसरे के प्रति दबाव है। सीमा सख्त नहीं रहनी चाहिए और जहां वह लगभग नहीं है—वही स्थिति मुक्तिबोध की है। बाहर से चेतना पर पड़ने वाला दबाव जड़ात्मक और हिंसात्मक कहा जा सकता है। भीतर से बाहर की ओर जाने वाला उसका उत्तर चिन्मय और अहिंसात्मक होकर ही विकास-साधक हो सकता है।

इन दो—जड़ और चेतन—शक्तियों के ज्वलंत संघर्ष में से शहीद संपन्न होता है। शहीद, जो स्वेच्छा से मरता और अपने ऊपर दूसरे को पूरी—यानी मारने तक की—स्वतंत्रता देता है।

वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व

जैनेन्द्रकुमार

स्वातंत्र्य मेरे निकट एक मूल्य है। किंतु, उपयोग से अलग उसका विचार अवास्तव हो सकता है। यानी, स्वतंत्रता मानव का अधिकार है, इस कहने में से मुझे विशेष आशय नहीं प्राप्त होता।

उपयोग से हम स्वतंत्रता का निर्माण करते हैं। दुरुपयोग उसे सीमित करता है और बंधन डालता है। समीचीन उपयोग उसे फैलाता और व्यक्ति को व्याप्ति देकर उत्तरोत्तर उसे मुक्त करता है।

स्वतंत्रता दिवस पर विशेष

दायित्व व्यक्ति का असल में वैयक्तिक और आत्मिक है, यानी वह जीवन में गर्भित है। यहां तक कि वह दायित्व के रूप में अनुभव में नहीं आता, स्वभाव-सा लगता है। सच्चे दायित्व का रूप यही है। वह आनंदमय है। वह स्वतंत्रता से अभिन्न है। वह सृजनात्मक है। उसका नियम अपने में है। समाज में उसका परिणाम है, प्रतिफल है। आनंद का उत्स भीतर है, इसी से अनिवार्य है कि उसका प्रवाह बाहर को हो।

दायित्व को सामाजिक कहना परिणाम की ओर से उसे देखना है। उसकी अतिरिक्त चेतना स्वयं समाज के हित में इष्ट नहीं है।

प्रेम दायित्व नहीं है। किंतु, वही है जो एक को अनेक से जोड़ता है। संबंध सब वहीं से उगते हैं। उस प्रेम की अनिवार्यता को लेकर जीवन सृष्ट होता है। कह सकते हैं कि जीव का जीवन प्रेम है। इस तरह सामाजिकता व्यक्ति पर आच्छादन नहीं है, उसका सहज विकास और प्रकाश है।

दायित्व कुछ ओढ़ी-सी चीज है। वह, वह कर्तव्य है जिसमें रस नहीं भी है। ऐसा दायित्व भीतर कुछ दमित भी छोड़ा जा सकता है। उससे व्यक्तित्व विभक्त बनता है। द्वंद्व उससे निबटता तो नहीं, उलटे कुंठा बनकर गहरा जाता है। स्पष्ट ही इससे समाज में विषमता उपजती है, जो समाज के स्वास्थ्य को पनपने नहीं देती।

इस तरह समाज की पृथक और कर्तृत्वमूलक चिंता एक असामाजिक कर्म है। उस पद्धति से ऐसा नेता और उद्धारक पैदा होता है, जो समाज पर कब्जा चाहता है, स्वयं उसमें किसी तरह हल नहीं हो पाता। यह एक ऐसा आदर्शवादी पुरुष है, जो मूल में केवल 'ट्रेजिक' है। अर्थात् ओढ़ी हुई समाज-चिंता एक गहरा रोग है और रक्त में रमी स्व-रति का चिह्न है। व्यक्ति इस पद्धति से समाज में मुक्त नहीं हो पाता, बल्कि उलटे वहां गांठ के मानिंद होकर अटल बनता है।

समाज के प्रति, यानी अन्य व्यक्तियों के प्रति,

सहानुभूति का भाव एक आंतरिक विवशता अधिक होनी चाहिए, राजकीय अथवा सामाजिक दायित्व कम। प्रेम धर्म है और उससे बड़ा कोई दायित्व और कर्तव्य नहीं हो सकता।

समाज का वहीं से आरंभ है जहां व्यक्ति की सीमा है। सीमा पर दोनों का एक-दूसरे के प्रति दबाव है। सीमा सख्त नहीं रहनी चाहिए और जहां वह लगभग नहीं है वही स्थिति मुक्तिबोध की है। बाहर से चेतना पर पड़ने वाला दबाव जड़ात्मक और हिंसात्मक कहा जा सकता है। भीतर से बाहर की ओर जाने वाला उसका उत्तर चिन्मय और अहिंसात्मक होकर ही विकास-साधक हो सकता है।

इन दो—जड़ और चेतन—शक्तियों के ज्वलंत संघर्ष में से शहीद संपन्न होता है। शहीद, जो स्वेच्छा से मरता और अपने ऊपर दूसरे को पूरी—यानी मारने तक की—स्वतंत्रता देता है।

अर्थात् स्वतंत्रता का सही उपयोग सदा उसके देने में है। हमारी स्वतंत्रता—वैयक्तिक, मानवीय और सामाजिक स्वतंत्रता—इसमें है कि हम दूसरे पर आरोप न लगाएं, अपशब्द न कहें। दूसरे शब्दों में, यह कि जहां तक हमारा संबंध है, हम हर किसी को स्वतंत्र मानें कि वह हमें गाली दे सके।

शहीद जीवन की गति को, उसके नियम को प्रकाशित करता है।

ऐसा असंभव हो जाए, अगर समाज का व्यक्ति को समाप्त करने का अधिकार अनधिकृत ठहरा दिया जाए।

वह अधिकार अत्यंत प्रकृत है। शेर का अपने शिकार पर अधिकार तब तक रहेगा जब तक वह शेर है। इसलिए हिंसा के अधिकार का प्रश्न नहीं है। वह प्रकृति में ही गर्भित है और सदा रहेगा। असल में हिंसा अधिकार ही अधिकार है और अधिकार की कोई चेतना सर्वथा हिंसा से शून्य नहीं है।

किंतु यह तो प्रकृति हुई। इस भूमिका से तो संस्कृति का मात्र आरंभ है। प्रश्न यहां से शुरू होता है और संस्कृति की ओर से देखने पर स्वतंत्रता वह अधिकार हो जाता है, जो हम सब को देते हैं। यानी हमारे लिए वह अधिकार से अधिक है, अर्थात् कर्तव्य है।

व्यक्ति का अधिकार शहादत है। सच में यज्ञ ही धर्म है। इसमें से जीवन का परम नियम सत्याग्रह प्राप्त होता है।

सत्याग्रह व्यक्ति की ओर से विनम्र ही हो सकता है। यानी, दूसरी ओर से वह सत्याग्रह और हठाग्रह के अधिकार को इस रूप में स्वीकार करता है पर, स्वयं उसे नहीं अपनाता।

सत्याग्रह के स्वीकार में व्यक्ति को समाज से प्रथमता मिल जाती है। यह प्रथमता समाज की गति और विकास के लिए परम मूल्यवान वस्तु है। असामाजिक तो यह है ही नहीं। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि समाज-मंगल के अर्थ में यह और भी अभीष्ट मूल्य है।

समाज के त्राता वे ही समझे गए हैं और समझे जाएंगे, जो अपने प्रेम को इन्कार नहीं कर सके हैं, यहां तक कि समाज ने चाहे अपने हाथों उन्हें उसके लिए मृत्यु ही दी हो। यह मृत्यु जीवन का प्रतीक बनकर इतिहास को प्रकाश देती रही है।

इस प्रथमता का स्पष्ट आधार यह है कि समाज अंत में एक परिमाण है। अंतःकरण उसमें यदि है तो वह अमुक व्यक्ति के ही रूप में हुआ करता है।

'सामाजिक दायित्व'—यह संज्ञा स्वयं व्यक्ति ही उत्पन्न कर सकता है। समाज की ओर से पड़ने वाले दबाव को दायित्व के रूप में लेने की संभवता अंत में व्यक्ति पर ही टिकती है। अंदर उसके प्रेम है, तभी वह उसे अत्याचार न कहकर दायित्व कहता है। अर्थात् समाज की ओर से उसका रूप केवल दबाव का है। व्यक्ति अपनी आंतरिक क्षमता से उस दबाव को उठाता ही नहीं, बल्कि स्वेच्छापूर्वक उसे अपनाता तक है। इसमें स्वयं व्यक्ति के स्वातंत्र्य की स्वीकृति है।

समाज धारणात्मक संज्ञा है। आजकल उसका रूप राष्ट्रीय है, क्योंकि मानव-जाति की व्यवस्था राष्ट्र-राज्य की परिभाषा में चलती है। स्पष्टतः यह ऐसी सीमित धारणा है कि व्यक्ति अपनी समस्त अनुभूति और संवेदना को लेकर उसमें बंद नहीं हो सकता। उसकी बाह्येंद्रियां तक उसे अखिल के संपर्क में लाती हैं। सूरज वह देखता है, चांद, तारे देखता है और आकाश देखता है, जो अगाध है और सदा पूर्ण है। उसका विज्ञान ब्रह्मांड को उसके निकट सतत खोलता और अनंत बनाता जाता है। इस सब से कट कर अमुक समाज में बंध कर वह रहना चाहे भी, तो यह उसके बस का काम नहीं है। अखिल के प्रति उसका संबंध सब

से प्राथमिक रहने ही वाला है। प्रसन्न स्वीकृति का संबंध आस्तिकता है, रुद्ध स्पर्द्धा के होने पर वही नास्तिकता है। पर, दोनों सामाजिकता की दृष्टि से एक-से उत्तीर्ण हैं और दोनों ही अनन्य रूप में प्राथमिक हैं।

शहीद इस प्राथमिक के सम्मान में गौण और सापेक्ष को किनारा दे रहता है, तो यह सापेक्ष की अप्रतिष्ठा नहीं है, बल्कि किंचित उसकी सेवा ही है।

शहादत को मैं अंतिम मूल्य मानता हूं। इसी से कहता हूं कि स्वतंत्रता मेरे निकट मूल्य ही है। यानी उसको अपनाकर, अपने को उसमें देकर, हमें उसे परिपूर्ण ही करते जाना है। जिससे समाज बलिदान पाए तो कुंठित और दमित व्यक्तियों का नहीं, वरन उसे प्रसन्न आत्मदान मिले, आहुत व्यक्तियों का और ऐसे वह उत्तरोत्तर भरपूर और निश्शासन होता जाए। ❖

मनुष्यरूपी पक्षी के दो पंख हैं—आत्मज्ञान और विज्ञान। उनमें से एक भी पंख टूट जाए, तो उसकी उड़ान खत्म हो जाएगी।

इन दोनों का ठीक ढंग से, समत्व रखकर विकास करने से ही मानव का समाधान होता है।

विज्ञान ने आज इतना सुख विस्तार किया है, जितना पहले कभी नहीं हुआ था। पर अंतःसमाधान पाने की दृष्टि और अवकाश उसे आज नहीं है। मनुष्य कोशिश तो सुख की करता है पर पाता है दुख ही। इसका कारण यही है कि हम आत्मा की तरफ कम ध्यान दे रहे हैं और शरीर का ध्यान बढ़ गया है। आत्मा के जो अनंत गुण हैं, उनका विकास नहीं हो रहा है, जितना सुख-साधनों का विकास हो रहा है। यही इस रोग का निदान है।

गति देना विज्ञान का कार्य है, परंतु किसी दिशा में ले जाना विज्ञान से नहीं हो सकता। विज्ञान गति देता है और आत्मज्ञान दिशा बताता है। मोटरकार में गति देने का इंतजाम अलग होता है और दिशा बताने का इंतजाम अलग। नौका चलाते हैं उसमें भी गति एक ढंग से दी जाती है, तो दिशा दूसरे ढंग से। इस तरह दिशासूचक और गतिप्रद यंत्रों में अलग-अलग शक्तियां हैं। विज्ञान गति है, दिशासूचन करने की शक्ति उसमें नहीं। वह तो आत्मज्ञान में है। हम पांव से चलते हैं, आंख से दिशा मालूम होती है। इसी तरह आत्मज्ञान है आंख और विज्ञान है पांव। इसलिए बिना विज्ञान के संसार में कोई काम ही नहीं हो सकेगा और बिना आत्मज्ञान के विज्ञान को ठीक दिशा नहीं मिलेगी।

जितनी ही विज्ञान की शक्ति बढ़ेगी, उतनी ही आत्मज्ञान की आवश्यकता भी बढ़ जाएगी। तीव्र साधन हाथ में आने के बाद अक्ल ठिकाने रखना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है, जो आत्मज्ञान से ही सधता है। इसलिए अब हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में गहरा डूबना होगा। जैसे विज्ञान के कारण कुछ लोगों के पास घर बैठे दुनिया को खत्म करने की शक्ति आ गई है, वैसे ही हमें भी घर बैठे ऐसी आध्यात्मिक शक्ति विकसित करनी होगी, जिसका असर कुल दुनिया पर हो।

—विनोबा भावे

संस्कृत का इतिहास सर्वांगीण है। सामान्यतया लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रंथों की ही बहुलता है। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। संस्कृत के प्राचीन साहित्य में आयुर्वेद विज्ञान, मनोविज्ञान, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, नृत्य, संगीत, वाद्य, गणित, हास्य, पशु-पक्षी संबंधी लक्षण ग्रंथ तथा उच्च कोटि के काव्य भी लिखे गए हैं। संस्कृत में शब्दों का अक्षयकोश है। पश्चिमी विद्वान भी यह स्वीकार करते हैं कि संस्कृत का जितना साहित्य प्रकाशित हुआ है, वह ग्रीक और लैटिन भाषा के समग्र साहित्य से दुगुना है। यह तो प्रकाशित साहित्य की बात है। संस्कृत में अभी भी अपार साहित्य अप्रकाशित पड़ा है।

संस्कृत साहित्य और तेरापंथ का अवदान

मुनि सुखलाल

भगवान महावीर ने कहा है—**सक्कयं पागयं चेव, एए बिय इसिभासियं**—संस्कृत और प्राकृत, दोनों ऋषि-भाषाएं हैं। दुनिया का सबसे प्राचीन वाङ्मय वेद संस्कृत भाषा में ही लिखा गया। यद्यपि पश्चिमी विद्वान मिश्र देश के वाङ्मय को भी सबसे पुराना मानते हैं। लोकमान्य तिलक ने गणित के आधार पर ऋग्वेद को दुनिया का सबसे प्राचीन वाङ्मय स्थापित किया है। उस कालगणना के अनुसार वेदों का रचनाकाल आठ हजार वर्ष पुराना है। संस्कृत एक वैज्ञानिक भाषा है। इसका अपना एक सुनिश्चित व्याकरण है। इसीलिए यह भाषा हजारों वर्षों की संवेदनाओं को हम तक पहुंचाती है। वेदों के बाद उपनिषद् भी संस्कृत भाषा में ही लिखे गए।

संस्कृत दिवस (श्रावण पूर्णिमा) पर विशेष

भारतवर्ष में श्रमणों का भी प्राचीन इतिहास है। जैन और बौद्ध—ये दो श्रमण संप्रदाय आज विद्यमान हैं। जैनों के अंतिम तीर्थंकर महावीर हुए हैं। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध हैं। इन दोनों महापुरुषों ने आमजन को दृष्टि में रखकर अपने उपदेश प्राकृत और पाली में दिए। यह आगम युग की बात है। श्रमणों ने प्राकृत और संस्कृत—दोनों भाषाओं को अपनाया। विक्रम की छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक के काल को न्यायशास्त्र के विकास का युग माना जाता है। इस युग में महर्षि कणाद, महर्षि पतंजलि, वराहमिहिर, चरक, सुश्रुत, कुमारिल भट्ट, अभिनवगुप्त, शंकराचार्य जैसे उद्भट ब्राह्मण विद्वान हुए हैं। बौद्ध परंपरा में असंग, दिङ्नाग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति, शांतरक्षित, अश्वघोष जैसे दिग्गज समण विद्वान हुए हैं। इसी धारा में जैन-परंपरा में उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के रूप में जैन-दर्शन पर पहला संस्कृत ग्रंथ लिखा। आचार्य भद्रबाहु, शीलांकाचार्य, आचार्य अभयदेव, आचार्य मलयगिरि आदि ने आगमों की संस्कृत टीकाएं लिखकर आगमिक ज्ञान को संस्कृत में प्रतिष्ठित करने का गुरुतर कार्य किया। उनके साथ-साथ जैन न्याय के विकास में आचार्य सिद्धसेन, आचार्य समंतभद्र, आचार्य अकलंक, मल्लवादी, पात्रकेशरी, आचार्य विद्यानंद, माणिक्यनंदी, वादिराज, प्रभाचंद्र, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र, आचार्य यशोविजय आदि अनेकानेक आचार्यों ने जैन दर्शन के श्रेष्ठतम ग्रंथ संस्कृत में ही लिखे।

सभी जैनाचार्यों की प्रतिभा के अपने-अपने प्रलंब वितान हैं। एक-एक आचार्य के संस्कृत के योगदान पर एक-एक आलेख ही नहीं, अपितु दर्जनों पुस्तकें लिखी

जा सकती हैं। आचार्य सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाएं अत्यंत गहन और परिष्कृत रचनाएं हैं। केवल आचार्य हेमचंद्र के कर्तृत्व का ही आकलन करें तो विस्मित रह जाएंगे। एक कवि ने कहा है—

किं स्तुमः शब्द-पाथोधेः हेमचंद्र-यतेर्मतिम्
एकेनापीह येनेट्टक्, कृतं शब्दानुशासनम्

शब्दसागर हेमचंद्राचार्य की प्रतिभा का क्या गुणगान करें, जिन्होंने अकेले ही विशाल हेमशब्दानुशासनम् जैसे पूर्णांग व्याकरण का निर्माण कर दिया। केवल शब्दानुशासनम् ही नहीं, काव्यानुशासनम्, अभिधान चिंतामणि (शब्दकोश), प्रमाण मीमांसा (न्याय ग्रंथ), त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, योगशास्त्र जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की संरचना उन्होंने की। कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिस पर उनकी कलम ने अपना कौशल नहीं दिखाया हो। उनका द्वयाश्रयी काव्य तो एक अनूठी रचना है, जिसमें एक ओर चालुक्य वंश के परमार्हनकुमारपाल का चरित्र चलता है तो दूसरी ओर संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के नियमों की सोदाहरण प्रस्तुति समानांतर होती चली गई है। सचमुच, ऐसे ग्रंथ का निर्माण कलिकाल सर्वज्ञ जैसा महापुरुष ही कर सकता है।

इसी प्रकार जैनाचार्य मेघविजयगणी ने सप्तसंधान काव्य एवं समयसुंदरगणी ने लक्षार्थी काव्य जैसे अमूल्य ग्रंथ संस्कृत को प्रदान किए हैं, जिनकी कल्पना ही दुरूह है।

सर्वार्थसिद्धि के रचयिता आचार्य पूज्यपाद, भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुंग, 1444 ग्रंथों के रचयिता आचार्य हरिभद्र, धवला-जयधवला के लेखक आचार्य वीरसेन और जिनसेन, उत्तर पुराण के रचयिता गणभद्र, तत्त्वार्थवार्तिक आदि नौ ग्रंथों के रचयिता विद्यानंद, आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथों के व्याख्याकार आचार्य अमृतचंद्र, रूपक ग्रंथ उपमिति भवप्रपंच के रचनाकार आचार्य सिद्धर्षि, अमितगति श्रावकाचार के लेखक अमितगति, गोम्मटसार जैसी अमूल्य कृति के रचनाकार आचार्य नेमिचंद्र, यशस्तिलक चम्पू तथा नीति वाक्यामृत ग्रंथ के रचयिता आचार्य सोमदेव, कविमूर्धन्य आचार्य रामचंद्र आदि सैकड़ों विद्वानों ने सैकड़ों महार्घ्य मणिरत्न संस्कृत ग्रंथों से इस भाषा के भंडार को समृद्ध किया है।

संस्कृत का इतिहास सर्वांगीण है। सामान्यतया लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रंथों की ही बहुलता है। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। संस्कृत के प्राचीन साहित्य में आयुर्वेद विज्ञान, मनोविज्ञान, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, नृत्य, संगीत, वाद्य, गणित, हास्य, पशु-पक्षी संबंधी लक्षण ग्रंथ तथा उच्च कोटि के काव्य भी लिखे गए हैं। संस्कृत में शब्दों का अक्षयकोश है। पश्चिमी विद्वान भी यह स्वीकार करते हैं कि संस्कृत का जितना साहित्य प्रकाशित हुआ है, वह ग्रीक और लैटिन भाषा के समग्र साहित्य से दुगुना है। यह तो प्रकाशित साहित्य की बात है। संस्कृत में अभी भी अपार साहित्य अप्रकाशित पड़ा है।

न्याययुग के बाद चौदहवीं, पंद्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में भी जैन विद्वानों ने प्रचुर साहित्य लिखा है। सतरहवीं, अठारहवीं शताब्दी का संस्कृत साहित्य कम मात्रा में उपलब्ध होता है। जैन संप्रदायों में श्वेतांबर और दिगंबर—सभी आचार्यों, संतों एवं लेखकों ने संस्कृत में अपने कौशल को प्रतिबिंबित किया है। पर, बीसवीं शताब्दी में जैन समाज में तेरापंथ में संस्कृत का एक अभिनव उत्कर्ष होता है।

तेरापंथ की स्थापना वि.सं. 1817 में आचार्य भिक्षु ने की थी। हो सकता है आचार्य भिक्षु ने संस्कृत साहित्य का पारायण किया हो। पर, उस समय संस्कृत में साहित्य-सृजन का कोई उल्लेख नहीं मिलता। तृतीय आचार्य रायचंदजी, चतुर्थ आचार्य जयाचार्य तथा पंचम आचार्य मघवागणी के समय में संघ में संस्कृत साहित्य का बीज पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में आठवें आचार्यश्री कालूगणी के समय में उस बीज का प्रस्फुटन, अंकुरण, पुष्पन एवं फलन हुआ। नौवें आचार्यश्री तुलसी एवं दसवें आचार्यश्री महाप्रज्ञ इस फलन के पुरोधा आचार्य बने। फिर तो तेरापंथ संघ में संस्कृत के पठन-पाठन एवं लेखन का एक अबाध अभिक्रम शुरू हो गया। अर्ध-शताब्दी की यह विकास यात्रा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से जिस संस्कृत साहित्य की संरचना हुई उसके रचनाकार एवं रचनाओं का ज्ञात विवरण इस प्रकार है—

आचार्यश्री तुलसी : 1. जैन सिद्धांत दीपिका 2. श्री भिक्षु न्याय कर्णिका 3. कर्तव्य षट्त्रिंशिका 4. श्री कालू कल्याण मंदिर 5. शिक्षा षण्णवतिः 6. धर्मरहस्यम् 7. सौराज्यम् 8. कविमाहात्म्यम् 9. किं तत्त्वम् 10. सर्व-मस्ति नास्ति किंचित् 11. दिशा संकेताः 12. कथाकोष

13. पंचसूत्रम् 14. संघ षट्त्रिंशिका 15. आराध्य स्तुतिः 16. निबंध निकुरंबम्।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ : 1. संबोधि 2. अश्रुवीणा 3. मुकुलम् 4. तेरापंथ चतुर्विंशतिः 5. संस्कृतं भारतीया संस्कृतिश्च 6. रत्नपालचरितम् 7. भिक्षुशतकम् 8. तुलसी स्तोत्रम् 9. संस्कृत वाक्य रचना—भागत्रयम् 10. निबंधावलिः 11. कथा व्यूहः 12. न्याय पंचशतिः 13. जयपुर यात्रा 14. श्लोक माला 15. अष्टाष्टकम् 16. भिक्षु गीता 17. भिक्षु गाथा 18. प्रज्ञालोकः 19. षोडशक द्वयम्।

युवाचार्यश्री महाश्रमण : 1. शेमुषी 2. शिक्षा सुधा।

मुनिश्री चौथमल : 1. भिक्षु शब्दानुशासनम् (अष्टाध्यायी) 2. कालू कौमुदी (प्रक्रिया) पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध।

मुनिश्री कानमल : 1. कालू कल्याण मंदिर, द्वयम्, 2. कालू भक्तामर 3. पंचतीर्थी 4. गेय काव्यम् 5. तुलसी न्याय प्रवेशिका।

मुनिश्री नथमल : 1. श्री भिक्षु महाकाव्यम् 2. युक्तिवादः 3. अन्योपदेशः 4. तेरापंथ स्तोत्रम् 5. सत्संग महिमा 6. जिन चतुर्विंशिका 7. वैराग्य तरंगिणी 8. अर्हदष्टकम् 9. तुलसी वचनामृत स्तोत्रम्।

मुनिश्री डूंगरमल : 1. पांडव विजय 2. अन्योक्ति संदोहः 3. गुरु गौरवम्।

मुनिश्री सोहनलाल : 1. कालू भक्तामर स्तोत्रम् 2. कालू कल्याण मंदिर स्तोत्रम् 3. देवगुरु स्तोत्रम् 4. मातृकीर्तनम् 5. भगवत् स्तुतिः 6. तुलसी प्रभा (प्रक्रिया)।

मुनिश्री छत्रमल : 1. कृष्ण शतकम् 2. महावीर शतकम् 3. जयाचार्य शतकम् 4. भिक्षु शतकम् 5. कालू शतकम् 6. तुलसी शतकम् 7. तेरापंथ शतकम् 8. देवगुरु द्वात्रिंशिका 9. भिक्षु द्वात्रिंशिका 10. तुलसी द्वात्रिंशिका 11. कामकुंभ द्वात्रिंशिका 12. तपःकुटी द्वात्रिंशिका 13. मुख्यपत्र द्वात्रिंशिका 14. मणिशेखर द्वात्रिंशिका 15. सूक्ति द्वात्रिंशिका 16. समवाद द्वात्रिंशिका 17. प्रतिभा द्वात्रिंशिका।

मुनिश्री दुलीचंद्र : 1. तुलसी स्तोत्रम् 2. तुलसी शतकम् 3. मर्यादा पञ्चकम् 4. ऐकान्हिक शतकम् 5. मेधाष्टकम् 6. समुद्राष्टकम् 7. सन्मति संदोहः 8. गीत संदोहः।

मुनि बुद्धमल : 1. निबंध सन्दोहः 2. कथा पेटकम् 3. आत्म मीमांसा 4. स्मितम् 5. उत्तिष्ठत-जाग्रत 6. भारतीय संस्कृतिः 7. चतुर्विंशति स्तवः 8. श्री तुलसी स्तोत्रम् 9. सत्संग त्रिंशिका 10. मधुकर चतुर्दशकम् 11. गुरु भक्ति चतुर्दशकम् 12. अन्योक्ति पंचाशिका 13. ऐकान्हिक शतकम् 14. रौहिणेय 15. दैवात् देवं बलीयः 16. मुक्ता माला।

मुनिश्री पूनमचंद्र : 1. तुलसी स्तोत्रम् 2. ऐकान्हिक श्लोकाः 3. प्रकीर्णक सप्ततिः 4. श्री वैराग्य मञ्जरी।

मुनिश्री चंपालाल : 1. अणुव्रत शतकम् 2. धर्म शतकम्।

मुनिश्री मोहनलाल : 1. नमिनाथ स्तुतिः 2. कुर्बर काव्यम् 3. कल्पना 4. ऐकान्हिक शतकम् 5. समस्या निशाष्ठिकः 6. प्रयास-प्रशस्ति 7. भारतीय संस्कृतिः।

मुनिश्री मधुकर : 1. समस्या शतकम् 2. पथिक पंचकम् 3. तुलसी सप्तकम् 4. सूर्याष्टकम्।

मुनिश्री सुखलाल : 1. ऐकान्हिक शतकम् 2. उन्निद्रम् 3. समुद्राष्टकम् 4. पथिक पंचदशकम् 5. अमृतम्।

मुनिश्री वत्सराज : 1. ऐकान्हिक शतकम् 2. श्लोक संग्रहः।

मुनिश्री राकेशकुमार : 1. ऐकान्हिक श्लोक सहस्री 2. नैशं द्विशतकम् 3. ऐकान्हिक शतकम् 4. श्लोक संग्रहः 5. परिमलम् 6. उन्मिषितम्।

मुनिश्री श्रीचंद्र : 1. मर्यादा षोडशकम् 2. मेघाष्टकम् 3. नद्यष्टकम् 4. समुद्राष्टकम् 5. अव्यय निबंधः 6. एकाक्षर निबंधः 7. कथामाला।

पंडित रघुनंदन : 1. भिक्षुशब्दानुशासनम् वृहत्वृत्तिः 2. तुलसी महाकाव्यम् 3. प्राकृत काश्मीरम्। 4. साधुरातकम्

साध्वीश्री मोहनकुमारी : 1. निबंधमाला 2. शिक्षा षट्त्रिंशिका।

साध्वीश्री मालू : 1. ऐकान्हिक शतकम्।

साध्वीश्री जतनकुमारी : 1. ऐकान्हिक शतकम्।

साध्वीश्री सोहना : 1. ऐकान्हिक शतकम्।

साध्वीश्री कानकुमारी : 1. गीतिका, 2. अहिंसा षोडशकम् 3. मेधाष्टकम्।

तेरापंथ के संस्कृत लेखकों की उपरोक्त एक सूची यहां प्रस्तुत की गई, पर संभव है कि कुछ लेखक छूट गए हों। तेरापंथी साधुओं की तरह साध्वियों ने भी संस्कृत साहित्य-सेवा में अपने कर्तृत्व को सार्थक बनाया है। वर्गीकरण की दृष्टि से देखा जाए तो तेरापंथ के संस्कृत साहित्य को नौ-भागों में विभक्त किया जा सकता है। 1. व्याकरण 2. दर्शन और न्याय 3. योग 4. महाकाव्य 5. खंडकाव्य 6. प्रकीर्णक काव्य 7. संगीत काव्य 8. स्तोत्र काव्य 9. नीति काव्य।

व्याकरण

व्याकरणों की रचना यद्यपि बहुत प्राचीनकाल से होती आई है। पर, ई.पू. 500 से 400 वर्ष के बीच पाणिनि ने इसका विधिवत व्यवस्थापन किया। इसमें कोई शक नहीं कि संस्कृत के क्षेत्र में ब्राह्मण विद्वानों की बड़ी गहरी पैठ रही है, पर जैन विद्वान भी इस दृष्टि से पूर्ण प्रयासरत दिखाई देते हैं। यही कारण है कि आज जैनाचार्यों के व्याकरण विषयक स्वतंत्र तथा टीका ग्रंथों की संख्या शताधिक है। जैनों का प्रथम व्याकरण—'जैनेंद्र व्याकरण' है। उसके कर्ता देवनंदी हैं, जिन्हें जिनेंद्र बुद्धि या पूज्यपाद भी कहा जाता है। यह विक्रम की छठी सदी की बात है। विक्रम की नौवीं सदी में जैन आचार्य पल्यकीर्ति ने 'शाकटायन व्याकरण' की रचना की। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में जैन आचार्य हेमचंद्र ने 'सिद्ध हेमशब्दानुशासनम्' की रचना की। बीसवीं शताब्दी में तेरापंथ के विद्वान मुनिश्री चौथमलजी ने तेरापंथ के आद्य प्रणेता आचार्य भिक्षु के नाम से क्लिष्टता, विस्तार, दूरान्वय आदि से मुक्त भिक्षु शब्दानुशासनम् नामक महाव्याकरण की रचना कर व्याकरण रचना के क्रम को वर्तमान तक पहुंचा दिया। इसमें उणादि पाठ, धातु पाठ, न्यायदर्पण, लिंगानुशासनम् आदि का भी समावेश है।

भिक्षु शब्दानुशासनम् संस्कृत का अधुनातन व्याकरण है। इसके बाद किसी भी संस्कृत व्याकरण के ग्रंथ की रचना नहीं हुई। इसके आठों अध्याय व्याकरण-शास्त्र की समग्रता को प्रकट करते हुए सरस भी हैं। प्रारंभिक छात्रों की सुविधा के लिए मुनिश्री ने तेरापंथ के अष्टमाचार्य कालूगणी के नाम से 'कालू कौमुदी' नामक प्रक्रिया की भी रचना की। पंडित रघुनंदन शर्मा इसकी वृहद्वृत्ति के निर्माण में योगभूत बने। इस प्रकार संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में संस्कृत वाङ्मय को तेरापंथ की यह अपूर्व भेंट है। इसी काल में मुनिश्री सोहनलालजी ने तेरापंथ के नौवें आचार्यश्री तुलसी के नाम से 'तुलसी प्रभा' के रूप में हेमशब्दानुशासनम् की संस्कृत प्रक्रिया तैयार कर जैन संस्कृत व्याकरणों में एक नया अध्याय जोड़ा।

दर्शन और न्याय

हर धर्म का अपना-अपना तत्त्वदर्शन होता है। जैन धर्म का भी अपना एक गहन तत्त्वदर्शन है। जैन तत्त्वदर्शन को समझाने के लिए समय-समय पर अनेक आचार्यों ने अनेक ग्रंथों की रचना की है। पर, समय-समय पर कुछ नए प्रश्न भी उभरते रहते हैं। युगीन अपेक्षाओं की तीव्र अनुभूति और अपने अंतस् को उद्घाटित करने की अकुलाहट ने बीसवीं सदी में आचार्यश्री तुलसी को जैन दर्शन के मौलिक तत्त्वों को वर्तमान के संदर्भ में प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी। उसी का परिणाम है—'जैन सिद्धांत दीपिका'। जैन दर्शन में प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों को परिभाषाओं के द्वारा सरलता से लक्ष्य तक पहुंचाने की दृष्टि से दीपिका जैन दर्शन का अधुनातन लाक्षणिक ग्रंथ है। जैन सिद्धांत दीपिका में जीव विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, आचारशास्त्र, प्रमाण, नय, सप्तभंगी आदि की विशद जानकारी वैज्ञानिक दृष्टि से प्रदान की गई है। भारतीय दर्शन के पारगामी विद्वान शतकौड़ी मुखर्जी ने दीपिका का अध्ययन कर कहा था—मैंने जैन दर्शन का काफी गहरा अध्ययन किया है। पर दीपिका को पढ़ने से अनेक जिज्ञासाओं का सहज समाधान मुझे प्राप्त हुआ है। एक फ्रेंच महिला ने तो इस ग्रंथ पर पीएच.डी. भी की है।

जैन तत्त्ववाद को मेघ की उपमा देते हुए आचार्यश्री तुलसी ग्रंथ के समापन में लिखते हैं—

व्यपाकुर्वन्नुर्वीं - प्रथिततर - मिथ्यामततपं,
वितन्वानः शैत्यं कलि-कलुष-संतप्त-हृदये।
चिदासारैः सिञ्चन् भविजनमनो भूतलमलं,
सतां शांतिं पुष्यात् सपदि जिन-तत्त्वाम्बुदवरः।।

इसी प्रकार जैन न्याय को समझने के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा वि.सं. 2002 में रचित 'भिक्षु न्याय कर्णिका' भी संस्कृत का एक अधुनातन लाक्षणिक ग्रंथ है। एक प्रकार से जैन न्याय का यह मील का पत्थर

है। इस लाक्षणिक ग्रंथ में जैन न्याय की पूरी परंपरा को समाहित कर आज की समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रशस्त किया गया है। सैकड़ों-सैकड़ों न्यायविद आचार्यों के सार तत्त्व को इस छोटे-से ग्रंथ में समाहित कर दिया गया है।

स्याद्वाद को नैयायिक क्षेत्र में एक समुद्र की उपमा देते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका के समापन में आचार्यश्री तुलसी ने कहा है—

स्याच्छन्दांकित - सप्त - भंग - सलिल व्यूहैर्गभीरोदरो,
वस्त्वंश-प्रतिपादि सन्नयकला-कल्लोल-मालाकुलः।
संविद्-रत्न-समुच्चयेन भरितः सत्तर्कफेनावृतः,
सोयं कस्य मुदे न सान्द्र-महिमा स्याद्वाद पाथोनिधिः।।

इस दृष्टि से न्याय पंचशति, युक्तिवाद तथा अन्योपदेश ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

योग

तत्त्वदर्शन की तरह साधना पद्धति के क्षेत्र में भी जैन आचार्यों ने प्रभूत कार्य किया है। जैन योग पर सम्यक् प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रंथ जैन आचार्यों द्वारा लिखे जा चुके हैं। समाधि तंत्र, योग दृष्टि समुच्चय, योग बिंदु, योगशास्त्र, अध्यात्म रहस्य, ज्ञानार्णव, योगचिंतामणि, योग दीपिका, योग शतक आदि अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। पर पातंजल योग दर्शन की शैली में लिखा गया आचार्यश्री तुलसी का मनोनुशासनम् ग्रंथ अपने-आप में एक नया मार्ग-दर्शन प्रदान करता है। आज का युग नव-जागरण का युग है। सबका जागरण हो रहा है, तब मन का भी जागरण होना चाहिए। सब जाग जाएं और मन सो जाए, यह वांछनीय नहीं है। सहज अनुशासित मन ही जाग्रत मन है। आज के मानव को उसकी प्रक्रिया की अपेक्षा है। इसी प्रक्रिया का दिग्दर्शन 'मनोनुशासनम्' में कराया गया है। इसकी सूत्रबद्ध शैली के पीछे यही दृष्टिकोण रहा है कि साधक को थोड़े में बहुत का परिचय प्राप्त हो जाए। वास्तव में प्रेक्षाध्यान की पृष्ठभूमि मनोनुशासनम् ही है।

योग दर्शन को समझने की दृष्टि से आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का 'संबोधि' ग्रंथ भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। जैन आगमों पर आधारित गीता की शैली में लिखा गया यह ग्रंथ तत्त्वज्ञान, दर्शन एवं योग का अनुपम ग्रंथ है। गीता के तत्त्वदर्शन में ईश्वरार्पण का जो माहात्म्य है, वही माहात्म्य जैन दर्शन में आत्मार्पण का है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ही परमात्मा या ईश्वर है। गीता का अर्जुन कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कायर होता है, तो संबोधि का मेघकुमार साधना की समरभूमि में कायर होता है। गीता के संगायक श्रीकृष्ण हैं, तो संबोधि के संगायक महावीर हैं। कृष्ण का वाक्-संबल प्राप्त कर अर्जुन का पुरुषार्थ जाग उठता है, तो महावीर की वाक्-प्रेरणा से मेघकुमार की मूर्च्छित चेतना जाग्रत हो जाती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्राकृत भाषा के महावीर के तत्त्व-दर्शन को संबोधि में संस्कृत भाषा में इस तरह रचा है कि वह मेघकुमार की तरह अनेक लोगों की चेतना को जगाने का कार्य कर रहा है। 'संबोधि' एक ऐसा ग्रंथ है जिस पर देश के मूर्धन्य विद्वानों की अनेक संगोष्ठियां हो चुकी हैं। अनेक लोगों ने इस पर पीएच.डी. भी प्राप्त की है।

महाकाव्य

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक उद्भट विद्वानों ने संस्कृत में आलंकारिक भाषा में महाकाव्यों की संरचना की है। विश्व साहित्य में उन महाकाव्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत में काव्य का प्रारंभ वाल्मीकि से हुआ। रामायण को संस्कृत भाषा का आदि महाकाव्य माना जाता है। क्रमशः यह परंपरा विकसित होती गई और कालिदास, अश्वघोष, आर्यशूर, भारवि, कुमारदास, प्रवरसेन, माघ, हर्ष, बाण आदि मूर्धन्य काव्यकारों ने उसे गौरवान्वित किया।

जैन मनीषियों ने भी संस्कृत भाषा में काव्य रचना के द्वारा अपनी प्रतिभा का प्रबल चमत्कार प्रस्तुत किया है। उन महाकाव्यों में वरांग चरित, चंद्रप्रभ चरित, वर्धमान चरित, पार्श्वनाथ चरित, प्रद्युम्न चरित, शांतिनाथ चरित, धर्मशर्माभ्युदय, नेमी निर्वाण काव्य, पद्मानंद महाकाव्य, भरत बाहुबलि महाकाव्य, जैन कुमारसंभव, यशोधर चरित्र, पांडव चरित्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र आदि की गणना प्रमुख रूप से की जाती रही है।

महाकाव्यों की यह परंपरा बीसवीं शताब्दी में और अधिक विकसित हुई। तेरापंथ धर्मसंघ में इस दिशा में एक नया उन्मेष आया। विगत दशकों में जो काव्य रचनाएं हुईं उनमें दो महाकाव्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे हैं—श्री भिक्षु महाकाव्यम् और श्री तुलसी महाकाव्यम्। महाकाव्य के लक्षणों से परिपूरित इन दोनों महाकाव्यों की

रचना मुनिश्री नथमलजी एवं पंडित रघुनंदनजी ने अत्यंत कुशलता से की है। वर्तमान युग में इस प्रकार के काव्यों की रचना एक ऐतिहासिक महत्त्व की बात है। संस्कृत भाषा के कौशल के साथ-साथ तेरापंथ धर्म और दर्शन को भी इनमें अत्यंत दक्षता से प्रतिबिंबित किया गया है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भिक्षुमहाकाव्य के आशीर्वचन में लिखा है—'श्री भिक्षुमहाकाव्य काव्य की सारी विधाओं से संपन्न महाकाव्य है। बीसवीं शताब्दी, संस्कृत भाषा और इतना गंभीर काव्य—एक सुखद आश्चर्य है। मध्य युग में संस्कृत के उत्कृष्ट काव्यों की रचना हुई, उन्हें आश्चर्य के साथ नहीं देखा जा सकता। उस समय संस्कृत भाषा का महत्त्व था, वातावरण था और सम्मान के स्वर मुखर थे। आज बीसवीं शताब्दी में संस्कृत उपेक्षित है। उसका वातावरण भी नहीं है। गंभीर अध्येताओं की भारी कमी है। इस स्थिति में इस प्रकार के प्रौढ़ काव्य की रचना सचमुच आश्चर्यपूर्ण घटना है।'

इस महाकाव्य में उपमा, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, अनुप्रास आदि अलंकारों का भरपूर उपयोग किया गया है। यह अत्यंत वैराग्यपूर्ण तो है ही, तेरापंथ दर्शन का एक प्रतिनिधि काव्य भी है।

काव्यकार आचार्य भिक्षु के बोधि-स्थल राजनगर का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

चातुर्वर्ण्य - सुवर्ण - वर्णित - सरः - सौधोपसौधोद्धुरः,
गुण्या-गण्य-सपण्य-पुण्य-विपणे पंक्त्या च पर्युल्लसत्।
लीला-लालित-लोकनीय-ललना-लोकैश्च लीलायितं,
लक्ष्म्यालोक ललाम लक्ष्य विलुभल्लक्ष्मीश्वरोल्लोलितम्।।

इसी प्रकार अरावली पर्वतमाला के प्राकृतिक वैभव की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं—

नाना निम्न-समुन्नताऽवट-वटाघट्टोद्-भटा सङ्कटा,
नाना नीरद-सन्निवास-निपुणा नीवृत्समारक्षिका।
नाना सुन्दर-मन्दिरोच्च-शिखरैरभ्रंलिहा सध्वजै-
नाना कन्दरिकन्दरा बहुदरा, सम्प्राप्त-वीरादरा।।
नाना निर्झर-निर्झराद्भुतरवा नाना सरित्-सज्जला,
नाना कुञ्ज-निकुञ्ज-कूजितखगा नाना द्रुमा सत्फला।।
माद्यन् मञ्जिम-मञ्जरी-मुकुलयन् माकन्दमालाकुला,
फुल्लोत्फुल्ललता-वितान-ललिता पुष्पोत्तरा पुष्पिता।।

हिन्दूकुलतिलक महाराणा प्रताप को याद करते हुए मुनिश्री ने लिखा है—

श्री हिन्दुकुलसूर्य इत्युपपदैः प्रख्याति-प्राप्तो महा-
राणा वीर-शिरोमणिः सविजयः सिंहः प्रतापादिमः।
मेवाडाधिपतिः प्रतापतपनः सन्तापितारिव्रजो,
दृष्ट्वा तां सहसैतिहासिकनरः स्मृत्यागमे शक्यते।।

उस अरावली पर्वतमाला को देखकर सहसा ऐतिहासिक पुरुष, महान ख्यातिप्राप्त, वीर शिरोमणि मेवाड़ाधिपति महाराणा प्रताप की स्मृति हो जाती है, जो 'हिंदूकुलसूर्य' की उपाधि से विभूषित, सूर्य के समान अद्वितीय तेजस्वी एवं शत्रुओं को संतापित करने वाला था। सचमुच 18 सर्गों में वसंततिलका, शिखरिणी आदि 18 छंदों में 2600 श्लोकों वाला भिक्षु महाकाव्य एक पूर्णांग महाकाव्य है।

पंडित रघुनंदन शर्मा द्वारा लिखित तुलसी महाकाव्य की भी अपनी एक विशिष्ट गरिमा है। समस्त पदों से अव्याकुल सहज भाषा में लिखा गया यह महाकाव्य अत्यंत भावपूर्ण है। आचार्यश्री तुलसी के गुरु कालूगणी के स्वर्गारोहण समय पर छाई निस्तब्धता का वर्णन करते हुए पंडितजी कहते हैं—

सीमान्तिनी प्रथममेव तथाञ्जयित्वा,
नाक्षि - द्वितीयमलमंजयितुं बभूव।
क्षौरार्धकर्मणि करादपि नापितस्य,
क्षित्यां क्षुरं निपतितं निशितं त्वरेण।।
ग्रासार्पणाय मुखमध्यमधिप्रविष्टा,
हस्तांगुली बहिरपेतु - मभूदनर्हा।
ग्रासोप्यधो न पतितो गलतो बुभुक्षोः,
कोलाहले सति दिवो गमनस्य कालोः।।

कालूगणी के दिवंगत होने के समाचार सुनकर कहीं महिलाएं एक आंख में काजल आंज कर भी दूसरी आंख में काजल नहीं डाल सकीं। कहीं अधूरे क्षौरकर्म के बीच ही नापित के हाथ से धारदार उस्तरा नीचे गिर गया, तो कहीं बुभुक्षु व्यक्ति का मुखगत ग्रास भी नीचे नहीं उतर पाया।

सचमुच इस प्रकार की अनेक कल्पनाओं ने महाकाव्य की सुषमा को बखूबी निखारा है।

खंडकाव्य

महाकाव्यों के समानांतर खंडकाव्यों की परंपरा भी बहुत प्राचीन रही है। गद्य और पद्य—इन दोनों ही शैलियों में इनकी रचना हुई है। जैन आचार्यों तथा विद्वानों

ने भी इस परंपरा को पर्याप्त विकसित किया है। विगत दशकों में तेरापंथ धर्मसंघ में भी इस काव्य-परंपरा का इतिहास बहुत वर्धमान रहा है। अश्रुवीणा, रत्नपाल चरितम्, प्राकृत काश्मीरम् आदि काव्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय रहे हैं।

'अश्रुवीणा' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा मंदाक्रांता छंद में रचित सौ श्लोकों का एक अत्यंत भावपूर्ण खंडकाव्य है। भावपक्ष तथा कलापक्ष—दोनों ही दृष्टियों से यह काव्य अत्यंत समृद्ध है। भगवान महावीर के तपस्वी जीवनवृत्त में करुणा से आप्लावित यह एक ऐसा खंडकाव्य है, जिसमें न केवल उत्कृष्ट कोटि का शब्दांकन है, अपितु अध्यात्म की गहराइयों से परिचित कराने वाला जीवन-संदेश भी है। चंदनबाला को आधार बनाकर सचमुच इस काव्य में श्रद्धा को साकार कर दिया गया है।

महाकवि कालिदास के मेघदूत की तरह आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा लिखित अश्रुवीणा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण खंडकाव्य है। मेघदूत में यक्ष की भावनाओं को अत्यंत मार्मिक विधि से उसकी प्रिया तक पहुंचाया गया है। उसी प्रकार अश्रुवीणा में चंदना के आंसू भगवान महावीर तक अपना संदेश पहुंचा कर कृतार्थ हो जाते हैं। सचमुच चंदना की श्रद्धा की यह एक भावपूर्ण प्रज्ञापना है—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी लिखते हैं—

वाष्पा! आशु व्रजत नयतेक्षध्वमेष प्रयाति,
साक्षात् प्राप्तः परिचितवृषैः प्रापणीयस्तपस्वी।
सार्थञ्चैकोऽनुभवति विपद्भारमोक्षश्च युष्मान्,
लब्ध्वा नान्यो भवति शरणं तत्र यूयं सहायाः।।

आंसुओ! शीघ्र जाओ। देखो, यह तपस्वी जा रहा है, पूर्वसंचित कर्मों से प्राप्य यह मुझे साक्षात् प्राप्त हुआ है।

आंसुओ! तुम्हें प्राप्त कर अकेला व्यक्ति विपद् भार से मुक्त हो जाता है। जहां सारे सहारे छूट जाते हैं, वहां तुम ही सहायक बनते हो।

आंसुओं ने चंदना की भक्ति को भगवान महावीर तक पहुंचाया और करुणाशील भगवान ने उसकी श्रद्धा को सार्थक बना दिया।

आचार्यश्री ने काव्य के आदिश्लोक में श्रद्धा को विविक्त करते हुए कहा है—

श्रद्धे! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्धदिग्धास्यदन्तान्,
भद्रानज्ञान् वचसि निरतांस्तर्कबाणैरदिग्धान्।
विज्ञांश्चापि व्यथितमनसस्तर्क लब्धावसाना-
न्तर्केणामान् न खलु विदितः तेऽनवस्थानहेतुः।।

श्रद्धे! तुम दुधमुंहे बच्चों से भी प्रेम करती हो जो मुग्ध हैं, भद्र हैं, वाणी पर विश्वास करने वाले हैं, तर्क-बाणों से अनाविद्ध हैं तथा उन विज्ञों से भी प्रेम करती हो जो तर्क से ऊब चुके हैं। पता नहीं तर्क के साथ तुम्हारा सह-अवस्थान क्यों नहीं हो पाता?

समूचा काव्य श्रद्धा के करुण शब्दों से भीगा हुआ है। 'श्रद्धा पात्रं भवति विरलस्तेन कश्चित्तपस्वी', 'श्रद्धा स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म'—आदि अनेक भावपूर्ण सूक्ति-स्वरों से मुखर है।

'रत्नपालचरितम्' जैन पौराणिक आख्यान पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा लिखित एक भावपूर्ण काव्य है। इसमें एक ओर जहां कल्पनाओं का भावपूर्ण विस्तार है, वहां जीवन की वास्तविकताओं का भी सुंदर समाकलन है।

पंडित रघुनंदनजी द्वारा लिखित प्राकृत काश्मीरम् न केवल कश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य को शब्दों में अंकित करता है, अपितु जीवन की सचाइयों को उजागर करने का भी एक सफल प्रयत्न है। पंडितजी में कवित्व की अद्भुत क्षमता थी। कविता उनकी सहचरी के रूप में नहीं, अपितु अनुचरी के रूप में प्रकट हुई है, इस प्रतिपत्ति में विसंगति-लेश भी नहीं है। पंडितजी न केवल एक प्रांजल आशुकवि थे, अपितु उन्हें सहज और सानुप्रास काव्य-रचना का भी अभ्यास था। गंभीर और गूढ़ भावों को सरल और सरस पदावली में प्रस्तुत करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने अपने काव्य में प्राचीनता और अर्वाचीनता में एक समीचीन सामंजस्य पैदा किया है।

'प्राकृत काश्मीरम्' में उन्होंने नदियों तथा कमलिनी की प्राकृतिक सौंदर्य-सुधा का पान करते हुए लिखा है—

राजीव-शुभ्रवसना कुहचिद् तुषारैः,
यूरोप-योषिदुपमा क्वचिदर्धनग्ना।
नग्ना कुहाप्युभयतो वनमानुषीव,
नेत्यल्पतामुपगता तटिनी नटीतः।।

अमरनाथ के नीचे से बहती हुई शुभ्रवसना अमरावती नदी कहीं श्वेत कमलों जैसी, बर्फ से पूर्ण रूप से ढंकी हुई है, तो कहीं यूरोपियन महिलाओं की तरह अधनंगी दिखाई देती है। बल्कि कहीं-कहीं तो वह जंगली औरतों की तरह

बिल्कुल नग्न-सी दिखाई दे रही है। वास्तव में नदी नटिनी से जरा भी कम नहीं दिखाई देती है।

इसी तरह कमलिनी का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

एकाकिनी कमलिनी स्वपतौ वियुक्ते,
नो भाषते न हसति, प्रणिमीलिताक्षी।
निन्दन्तु के न मनुजामपि तां नितान्तं,
या प्रोषिते निजजने रमते परेषु।।

अपने पति सूर्य की अनुपस्थिति में एकाकिनी कमलिनी आँखें मूंदे हुए न तो बोलती है और न हंसती है। यह समझकर कि कोई भी यह न कह दे कि पति की अनुपस्थिति में यह स्त्री दूसरे लोगों के साथ रमण कर रही है।

खंडकाव्यों की परंपरा में पांडव विजय, रोहिणेय, भाव भास्कर, बंकचूल चरित्रम्, अभिज्ञानम्, कर्बुर काव्यों का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रकीर्णक काव्य

संस्कृत भाषा में वर्ण्यविषयों की कोई सीमा नहीं है। संस्कृत के कवियों ने इतने प्रकीर्णक काव्यों की रचना की है कि उनके नामों का ही संकलन किया जाए तो एक स्वतंत्र आलेख का निर्माण हो सकता है। तेरापंथ में भी प्रकीर्णक काव्यों की एक लंबी शृंखला है। तुला-अतुला एक ऐसा ही प्रकीर्ण काव्य है जो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के आशुकवित्व, समस्यापूर्ति तथा अन्य-अन्य रचित स्फुट श्लोकों का गरिमामय संकलन है। तेरापंथ में आशुकवित्व सचमुच में ही आश्चर्यकारक है। पूना की वाग्वर्धिनी सभा तथा वाराणसी विश्वविद्यालय जैसे विद्वत् केंद्रों में उसकी अनेक बार अग्निपरीक्षा हुई। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का आशुकवित्व वहां कनक बनकर निखरा। तुला-अतुला में उसी स्वर्णिम आभा के मंगल दर्शन होते हैं। मुनिश्री बुद्धमलजी भी एक सधे हुए आशुकवि थे। उन्होंने भी दिल्ली से लेकर अनेक क्षेत्रों में आशुकवित्व का कुशल प्रयोग किया। उनका 'उत्तिष्ठत! जाग्रत' प्रकीर्ण काव्य युवकों में नया जोश जगाने वाला प्रेरक काव्य है।

गद्यकाव्य 'मुकुलम्' में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी आधुनिक रचनाकारों का मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं—**गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' इति कृत्वा बहुमानितानि गद्य काव्यानि। कादम्बरी, हर्षचरित, यशस्तिलक चम्पू, तिलक मञ्जरी, दशकुमार चरित सदृशानि महाकाव्यानि अपि निबद्धानि महाकविभिरन्यूनकाव्यकौशलानि। किंतु कूलंकषेयं काव्य-सरिता नवमभिनव-क्षेत्रमवगाहमाना नैकरसा भवति सनातनम्। पाश्चात्यभाषाप्रभावितेऽद्यतने साहित्ययुगे संस्कृत-पंडिता अपि स्वकाव्य-शैलीं परिमार्जयेयुरिति जातमावश्यकम्। तानि समासजटिलानि केवलप्राकृतिकसौंदर्यसुघटानि राजप्रासादनगरोद्यान-सरःसरित्तरुकुसुम-वर्ण-पराणि काव्यानि नाद्यतनानां कवीनां सहृदयानाञ्च भविष्यति हृदयाकर्षण-निपुणानि। आधुनिकः सहृदयः समस्ति गहनवनविहार-भीरुः। स मुक्तामभिवाञ्छति विपणि प्रांगणे, नेहते तदर्थमवगाहन-मम्बुधेः। लघुषु, प्रसन्नेषु, असमस्तेषु, अल्पसमासेषु वाक्येषु यत् काव्यं निबध्यते, तत् सुबहु भवति मनोहारि साम्प्रतम्। सौंदर्यापेक्षया वर्तमानस्थितेर्वा चित्रणं स्यादधिकमाकर्षकम्।**

'गद्य कवियों की कसौटी है'—यों कहकर गद्य काव्यों का बड़ा सम्मान किया जाता रहा है। महाकवियों द्वारा रचित कादम्बरी, हर्षचरित, यशस्तिलक चम्पू, तिलक मञ्जरी तथा दशकुमार चरित जैसे महाकाव्यों में काव्य-कौशल कम नहीं है। परंतु, लहराती-उतराती यह काव्य सरिता नव-नव क्षेत्र का अवगाहन करती सदा एक धार वाली नहीं रहती। पश्चिम की भाषाओं से प्रभावित आज के साहित्यिक युग में संस्कृत के विद्वान भी अपनी-अपनी काव्य शैली का परिमार्जन करें, यह अति आवश्यक हो गया है। समासों से जटिल, केवल प्रकृति के सौंदर्य से सुघटित राजमहल, नगर, उद्यान, सरोवर, सरिता, वृक्ष, पुष्प आदि के वर्णन से युक्त काव्य आजकल के कवियों और सहृदय पाठकों के हृदय को आकर्षित नहीं कर सकते। आज का सहृदय पाठक गहन वन में विहार करने में सकुचाता है। वह बाजार के आंगन में मोती चाहता है, उसके लिए वह समुद्र में डुबकी लगाना नहीं चाहता। आजकल वही काव्य मन को आकर्षित करता है जो संक्षिप्त हो, प्रसादगुणयुक्त हो, जिसमें समास न हों अथवा थोड़े समासपद हों। सौंदर्य की अपेक्षा वर्तमान स्थिति का या वस्तुस्थिति का चित्रण अधिक आकर्षक होता है।

संगीत काव्य

काव्य और संगीत, कला की दो भिन्न धाराएं हैं। पर, जब इन दोनों कलाओं का संगम हो जाता है तो एक नई रसधारा बहने लगती है। संस्कृत भाषा में महाकवि

जयदेव के गीत-गोविंदम् की तरह ही जैन परंपरा में उपाध्याय विनयविजय का शांत सुधारसम् गीतिकाव्य भी वैराग्य रसधारा को बहाने वाला अनुपम संगीत काव्य है। तेरापंथ में इस विधा में भी काफी उपयोगी साहित्य लिखा गया है। गीति संदोहः, संस्कृत गीतिमाला, गीति गुच्छः, गीति गुम्फः आदि रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। संत साहित्यकारों के साथ-साथ साध्वी साहित्यकारों ने भी इस विधा का समुचित उपयोग किया है।

स्तोत्र काव्य

भक्त और भगवान के बीच एक गहरा तादात्म्य होता है। उसी से संभव होती है स्तोत्र साहित्य की संरचना। तेरापंथ में भी अनेक स्तोत्र काव्यों की अजस्र-धारा बहती रहती है। इन स्तोत्र काव्यों की अपनी एक अकथ कहानी है। अनेक संतों ने इस अमृतधारा में बह कर अपने-आप को उत्फुल्ल बनाया है।

नीति काव्य

नीति मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य की एक विभाजक रेखा है। यह रेखा एक ओर जहां व्यक्ति के व्यक्तित्व को ऊर्जस्वित बनाती है, वहां समाज और संप्रदाय को भी जीवनदान देती है। संस्कृत में नीति के असंख्य अनमोल बोल हैं। अनेक ग्रंथों की भी संरचना इस विधा में हुई है। तेरापंथ में नीति ग्रंथों के निर्माण में आचार्यश्री तुलसी का नाम शीर्षस्थान पर है। आपने पंचसूत्रम्, शिक्षा षण्णवतिः, कर्तव्य षट्त्रिंशिका आदि ग्रंथों की संरचना कर जहां साधकों का समुचित मार्गदर्शन किया है, वहां संघ सेतु के निर्माण में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आचार्यश्री तुलसी जिस प्रकार एक कुशल अनुशास्ता हुए हैं, उसी प्रकार उनके साहित्य में भी अनुशासन की खुशबू का स्पष्ट आभास होता है।

तेरापंथ के साधु-साध्वियों ने संस्कृत भाषा के विकास के हर नए उन्मेष का स्वागत किया है। इस दृष्टि से ऐकान्हिक श्लोक शतकों की एक लंबी शृंखला बन गई है। लगभग दो दर्जन साधु-साध्वियों ने ऐकान्हिक श्लोक शतकों की रचना कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। बल्कि मुनि राकेशकुमारजी तथा मुनि गुलाबचंदजी ने तो एक दिन में एक हजार तथा ग्यारह सौ श्लोकों की रचना कर नया प्रतिमान स्थापित किया है।

संस्कृत साहित्य में चित्रकाव्यों की भी एक पुष्ट परंपरा रही है। तेरापंथी साधु-साध्वियों ने भी इस धारा में अपनी लेखनी का कौशल दिखाया है। असल में तेरापंथी संस्कृत साहित्य का एक विशाल दायरा है। अनेक लोगों ने इस संदर्भ में अपने शोध प्रबंध लिखे हैं। यद्यपि आज देश में संस्कृत के विकास पर बहुत ध्यान नहीं दिया जा रहा है, पर तेरापंथ संघ में आज भी संस्कृत के पठन-पाठन एवं लेखन का क्रम चल रहा है। अनेक साधु-साध्वियां न केवल जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं से जुड़े हुए हैं, अपितु गुरु-परंपरा से भी संस्कृत का तलस्पर्शी अध्ययन कर रहे हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तथा युवाचार्यश्री महाश्रमणजी स्वयं संघ के लिए प्रेरणास्रोत हैं। आपके नेतृत्व में संघ में संस्कृत भाषा के भविष्य के शुभ संकेत प्राप्त हो रहे हैं। ❖

कर्मबंधन और आत्मस्वातंत्र्य : भारतीय दृष्टि

संदर्भ

1. महाभारत, शांतिपर्व 231/48/49
2. मनुस्मृति 4/273, महाभारत, आदिपर्व 80/3
3. बाल गंगाधर तिलक : गीता रहस्य, पृ.सं. 270
4. गीता 5/14, 15
5. ऋग्वेद 4/33/11
6. बाल गंगाधर तिलक : गीता रहस्य, पृ.सं. 271
7. वही, पृ.सं. 281
8. गीता 6/5
9. मैत्रायणी उपनिषद् 3/2

पृष्ठ 20 का शेष

10. गीता 18/63
11. धम्मपद 380
12. साध्वी शुभ्रयशा : आचारांग और महावीर, पृ.सं. 72
13. तत्त्वार्थ सूत्र 10/1
14. आचारांग सूत्र 5/103
15. एस.के. मैत्र : 'द ऐथिक्स ऑफ हिंदुज्म', पृ.सं. 90
16. रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ.सं. 207
17. नन्दकिशोर आचार्य : संस्कृति का व्याकरण, पृ.सं. 38

❖❖

'सुना है मैंडोलिन मूलतः भारतीय वाद्य है, उसे बंजारे लेकर गए थे, जिन्हें जिप्सी कहते हैं...लेकिन टेलीविजन (दूरदर्शन) पर वह जो वाद्य बजा रहा है, उसने उसे गोद पर रखा है, मतलब वह सितार नहीं हो सकता। सुरबहार भी नहीं हो सकता, वीणा भी नहीं, सरोद भी नहीं। सुरबहार और वीणा बड़े-बड़े साइज (आकार) के वाद्ययंत्र हैं। वह सरोद हो सकता है, लेकिन सरोद तो साउथ इंडियन (दक्षिण भारतीय) वाद्य नहीं है। उसे अधिकतर नार्थ इंडियन (उत्तर भारतीय) मुसलमान वादकार ही बजाया करते हैं। इस यंत्र को जिस प्रकार साउथ इंडियन (दक्षिण भारतीय) ब्राह्मण शिल्पकार बजा रहे हैं उससे तो लगता है कि वह निश्चय ही कोई टेंपुल म्यूजिक (देवालय संगीत) है, इस प्रकार उसके वीणा होने की ही सबसे अधिक संभावना है।'

हीरे के कर्णफूल

नवनीता देवसेन

'देखा है, उस आदमी के कान में हीरे के कर्णफूल हैं?'

—'हीरे के कर्णफूल? कहां?'

—'ये देखो न कान में।'

—'कहां, नहीं तो?'

—'हैं! मुझे एकदम साफ दिखाई दे रहा है। तुम्हारे नहीं कहने से नहीं होंगे क्या?'

—'लेकिन दादी, ये तो बड़ी ही परेशान करने वाली बात है? कान में हीरे के कर्णफूल नहीं हैं तो क्या तुम्हारे कहने-भर से हो जाएंगे?'

—'ये देखो न झिलमिला रहे हैं।'

—'तुम ठीक नहीं देख रही।'

—'मैंने खुद अपनी आंख से देखा है।'

—'खुद अपनी आंख से ही तो लोग गलत देखते हैं। दूसरे की आंख से क्या कभी कोई देख सकता है?'

—'वह साउथ इंडियन (दक्षिण भारतीय) है।'

—'बंगाली।'

—'साउथ इंडियन (दक्षिण भारतीय) ही होगा। कारण, उसके कान में हीरे के कर्णफूल हैं। साउथ इंडियन ब्राह्मण, खासकर, शिल्पकार आदि कान छिदवाकर कुंडल पहनते हैं। यज्ञोपवीत के समय कान छिदवाने की प्रथा है। वह साउथ इंडियन ब्राह्मण ही है।'

—'लेकिन दादी...'

—'सुनो तो, साउथ (दक्षिण) में आज भी 'कास्ट सिस्टम' (जाति प्रथा) है। तुम सब केवल उसकी बुराइयां सुनते हो। उसमें अच्छाइयां भी हैं। वे वर्णाश्रम मानते हैं, केवल ब्राह्मण ही संगीतशास्त्र का अध्ययन और अध्यापन करते हैं और संगीत-नृत्यकला आदि की शास्त्रीय चर्चा करते हैं। उसके कान में हीरे के कर्णफूल हैं, उन्हें कुंडल कहते हैं। इसका अर्थ हुआ—वो ब्राह्मण है, 'उसकी गोद में जो वाद्ययंत्र है...'

—'गिटार?'

—'नहीं हो सकता। वह गिटार नहीं।'

—'दादी, उसे गिटार ही कहते हैं।'

—'गिटार नाम का कोई 'साउथ इंडियन म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट' (दक्षिण भारतीय सांगीतिक वाद्ययंत्र) नहीं है, दादी।'

—'वह गिटार है। सुनो दादी, सिर्फ दो प्रकार के गिटार होते हैं—हवानियन (हवाना के) और स्पैनिश (स्पेन के)। अंग्रेजी फोकसोंग (लोकसंगीत) के साथ—'

—'वह गिटार नहीं। वह स्पैनिश भी नहीं। हवानियन भी नहीं। वह एक साउथ इंडियन यंत्र है।'

—'सुनो दादी, अच्छी तरह सुनो। उसका नाम गिटार है। वह स्पैनिश नहीं, हवानियन गिटार है और वह इलेक्ट्रिक (बिजली का) गिटार है।'

—'इलेक्ट्रिक से जो वाद्ययंत्र चलता है उसे इलेक्ट्रोनिक म्यूजिक (विद्युततानी संगीत) कहते हैं। उसे बैठे-बैठे संगीतकार नहीं बजाते। वह कंप्यूटर पर तैयार किया जाता है, बटन दबाने पर अपने-आप बजने लगता है। इलेक्ट्रिक से कोई भारतीय वाद्ययंत्र नहीं चलता। सितार, सरोद, वीणा—ये सब हमारे स्वदेशी बाजे हैं। ये सब भी क्या विद्युततानी हो सकते हैं?'

—'गिटार तो स्वदेशी नहीं, वह विलायती बाजा है, जैसे मैंडोलिन, बैंजो—'

—'सुना है मैंडोलिन मूलतः भारतीय वाद्य है, उसे बंजारे लेकर गए थे, जिन्हें जिप्सी कहते हैं...लेकिन टेलीविजन (दूरदर्शन) पर वह जो वाद्य बजा रहा है, उसने उसे गोद पर रखा है, मतलब वह सितार नहीं हो सकता। सुरबहार भी नहीं हो सकता, वीणा भी नहीं, सरोद भी नहीं। सुरबहार और वीणा बड़े-बड़े साइज (आकार) के वाद्ययंत्र हैं। वह सरोद हो सकता है, लेकिन सरोद तो साउथ इंडियन (दक्षिण भारतीय) वाद्य नहीं है। उसे अधिकतर नार्थ इंडियन (उत्तर भारतीय) मुसलमान वाद्यकार ही बजाया करते हैं। इस यंत्र को जिस प्रकार साउथ इंडियन (दक्षिण भारतीय) ब्राह्मण शिल्पकार बजा रहे हैं उससे तो लगता है कि वह निश्चय ही कोई टेंपुल म्यूजिक (देवालय संगीत) है, इस प्रकार उसके वीणा होने की ही सबसे अधिक संभावना है।'

—'दादी, लेकिन।'

—'मालूम है, तुम कहोगी कि वह वीणा से छोटा है। लेकिन सबसे मुख्य बात तो यह है कि यह मिनि युग है। सब-कुछ इत्ता-इत्ता-सा। हर चीज का आकार छोटा होता जा रहा है। इकोनमी (आर्थिक) कारण से भी और स्पेस (स्थानाभाव) के कारण भी। इसके अलावा, दूसरी बात यह है कि आधुनिक इंडियन म्यूजिक (भारतीय संगीत) पाश्चात्य देशों में बहुत पॉपुलर (लोकप्रिय) हुआ है। दिन-रात इस देश के शिल्पकार वाद्ययंत्रादि के सरंजाम सहित उन देशों में भागमभाग करते रहते हैं। ट्रैवलर इस्त्री (यात्रावाली आयरन) जिस प्रकार छोटी होती है, शायद ट्रैवलर वाद्ययंत्र भी छोटा होता है। मैं मानती हूं कि यह वाद्य मिनि (छोटी) वीणा ही होगा।'

—'वह इलेक्ट्रिक गिटार है, दादी।'

—'तुम कहना क्या चाहती हो कि हीरे के कर्णफूल पहने हुए यह निष्ठावान संगीतज्ञ दक्षिणी ब्राह्मण कलाविद् इलेक्ट्रिक गिटार जैसा अनभिजात्य बाजा उंगली से छुएंगे भी?'

—'लेकिन दादी, वह साउथ इंडियन ब्राह्मण नहीं।'

—'क्या, उसके कान में हीरे के कर्णफूल नहीं?'

—'नहीं दादी। वह दृष्टिदोष है। उसे ऑप्टिकल इलियूशन (दृष्टिदोष) कहते हैं। दूसरी बात यह है कि एक लाइट (बत्ती) वहां रिफ्लेक्ट (प्रतिबिंबित) कर रही है।'

—'दोनों कानों में कर रही है, सिमेट्रिकली (समंजसता)!'

—'यही हो रहा है। नहीं तो क्यों...'

—'वह वीणा नहीं...मिनि वीणा नहीं?'

—'नहीं दादी। वह इलेक्ट्रिक गिटार है।'

—'उसमें क्या क्लासिकल कर्नाटक म्यूजिक (शास्त्रीय कर्नाटक संगीत) बजाया जा सकता है?'

—'किसने कहा क्लासिकल कर्नाटक म्यूजिक बजा रहा है?'

—'वीणा में और बजेगा ही क्या? जिस प्रकार साउथ इंडियन ब्राह्मण के हाथों में एक्रोपेरिमेंटल मिनि वीणा बज रहा है उसी प्रकार सुर भी निओ क्लासिकल कर्नाटक (नव-शास्त्रीय कर्नाटक) होगा ही।'

—'लेकिन वह तो रवींद्र संगीत बजा रहा है।'

—'कैसे मालूम?'

—'अखबार में लिखा हुआ था।' बड़ी नातिन बोली।

—'और वो तो बंगाली है।' छोटी नातिन बोली, 'मुझे मालूम है।'

—'उसका नाम राधेश्याम है। बनर्जी या चटर्जी, ठीक-ठीक याद नहीं।'

—'दोनों में से एक भी नहीं, घोष।' शांत भाव से दादी बोली, 'उसका नाम राधेश्याम घोष है।'

—'आंय?' दोनों नातिनों का विस्मित स्वर सुन पड़ा।

—'तुम जानती हो उसका नाम? तुम उसको पहचानती हो?'

—'नहीं, पहचानती नहीं, लेकिन नाम क्यों नहीं जानूंगी? प्रोग्राम (कार्यक्रम) के आरंभ में ही उसके चित्र पर बांग्ला अक्षरों में उसका नाम लिखा हुआ था। मेरी पैतृक पदवी घोष है, क्या मुझसे गलती हो सकती है?'

'अगर इतना ही याद था तो क्यों कहा था कि वह साउथ इंडियन (दक्षिण भारतीय) ब्राह्मण है? घोष क्या साउथ इंडियन होते हैं या घोष ब्राह्मण होते हैं?'

—'लेकिन ये तो देखा कि कान में हीरे के कर्णफूल हैं।'

—'तुम्हें तो मालूम है कि वो फूल नहीं, केवल रिफ्लेक्शन (प्रतिबिंब) है...'

—'और फिर गिटार को मिनि वीणा क्यों कहा?'

—'और रवींद्र संगीत को क्लासिकल कर्नाटक?' दादी मंद-मंद मुस्कराई और बोली : 'अच्छा हुआ आज तुम्हारे टी. वी. में आवाज नहीं थी? सिर्फ चित्र थे ना? इसीलिए इतना मजा आया? नहीं तो कल्पनालोक की तो जरूरत ही न होती। रेडियो के युग में कुछ तो कल्पनीय होता था। आधुनिक काल में सब स्पष्ट है, स्थूल है। मैंने असल में शर्लक होम्स सीरिज (शर्लक होम्स शृंखला) लगाई थी। राधेश्याम घोष को क्या राधेकृष्ण आइयर बनाया जा सकता है?'

'तुम तो दादी। सच। क्या करती हो।' हंसते-हंसते दोनों नातिनें चिल्लाईं—'बहुत चिढ़ाती हो। उफ! मदाम शर्लक होम्स।' ❖

अनुवाद : चंद्रकिरण राठी

धर्म, अपने विस्तृत अर्थों में संस्कृति के समान है और उससे बाहर भी है तथा संकुचित अर्थों में उसका महत्त्वपूर्ण अंग बनता है। जहां धर्म, आंतरिक अनुभूतियों के महत्त्व को प्रकट करता है, जिससे जीवन के अर्थ और उद्देश्य का ज्ञान हो, वह संस्कृति की मूल आत्मा है, किंतु जहां धर्म का प्रयोग बाह्य रूप में होता है, जिसमें आंतरिक अनुभूतियां प्रतिबिंबित होती हैं, वह संस्कृति का एक अंश मात्र रह जाता है। धर्म, उच्चतम सत्य की आंतरिक उपलब्धि के रूप में, कभी संस्कृति का विरोधी नहीं बन सकता, किंतु जब वास्तविक धर्म का ह्रास होता है और वह सारहीन बन जाता है, तब अक्सर संस्कृति से उसका टकराव होता है।

संस्कृति के लिए, दूसरे शब्द की तरह, कभी-कभी सभ्यता का उपयोग किया जाता है, किंतु सामान्यतया संस्कृति के ऊंचे स्वरूप के अर्थों में। यथार्थ में सभ्यता, मनुष्यों के सांस्कृतिक विकास की वह स्थिति है, जिसमें नगर कहे जाने वाले जनसंख्या के क्षेत्रों में, वे रहना प्रारंभ कर देते हैं तथा उच्च श्रेणी के भौतिक जीवन या उच्च जीवन स्तर के प्रतीक बन जाते हैं। किंतु उच्च स्तर के भौतिक जीवन में संस्कृति का अंश तभी आता है, जबकि वह उसमें संश्लिष्ट हो या उच्च नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने का कोई माध्यम बने। जब ऐसा जीवन, नैतिक मूल्यों में से किसी एक के प्रतिकूल होता है या ऐसे किसी नैतिक मूल्य से दूर रहता है, तब वह सांस्कृतिक विकास में अवरोध बन जाता है। इस तरह सभ्यता हमेशा संस्कृति की मित्र नहीं होती, बल्कि कभी-कभी शत्रु बन जाती है। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि पुरानी सड़ी सभ्यता को उखाड़ फेंकना पड़ा, जिससे कि संस्कृति का नये रूप में उदय हो सके।

—एस. आबिद हुसैन

स्वामी संवित् सोमगिरि की कविताएं

अर्बुद-शिला-1

एक मुद्रा है
तुम्हारी
हर एक शिला
अर्बुदांबा!
ओ मां!
जो कभी
तुम्हारे कहीं गहरे से थी निकली
उबलती-लहरती
नव-नव रूप उगलती
संवेगों में अपने
गगन को कसती
संतप्त सांसों में पवन को बांधती
ऊपर को थी उछली
अमित विस्तार को तुम्हारे
विस्मय में समेट अपने
आकाश में अंकित हुई
मौन हो-थिर हुई
शिलित हुई—
किंतु अब भी बहती है
काल के आयाम में
नाम के आयाम में
चुपचाप भी, अभी भी
तुम्हारे महामौन को गुंजाती-गाती है
तुझ अरुणा को बताती है
यह रूपा मुद्रा शिला
हर अर्बुद-शिला!

अर्बुद-शिला-2

अर्बुद-अचल के
हर मोड़ में
दिखती-दिखाती
प्रेरती शीलवती शिलाएं
ये काली-काली कलिकाएं
अपने कठिन कसाव में से
खिली
खिलती
खिलखिलाती
अपने आत्म-भराव में से
उभरी-उभरी
उभारती अपने मातृत्व को
स्वयं में झांकती
उचकती
नीलिमा पान करती
बुलाती है
मुझे अपने गूंज-गह्वर में
आत्म-भंवर में
डुबाती हैं मुझे
ये मौन मातृकाएं—अर्बुदाएं!

अर्बुद-शिला-3

सांझ के
स्याह होते उजाले में
तपन को मुक्त करती अपनी
ये श्यामल शिलाएं
अपने-आप में होतीं
अपने खुरदरे थिर रोमांच में
गहरे-गहरे डुबाती
मुझे
अपने जन्म की—
आग्नेयी स्मृति से युक्त करती हैं
मुझे लावा करती हैं—
कि मैं भी बहूं
और मौन में शिलीभूत हो
मुक्त हो जाऊं! ❖❖

अर्बुदाचल पर्वत की शिलाएं ज्वालामुखी से निकले लावे के जम जाने पर बनी हुई हैं—ये आग्नेय चट्टानें हैं।

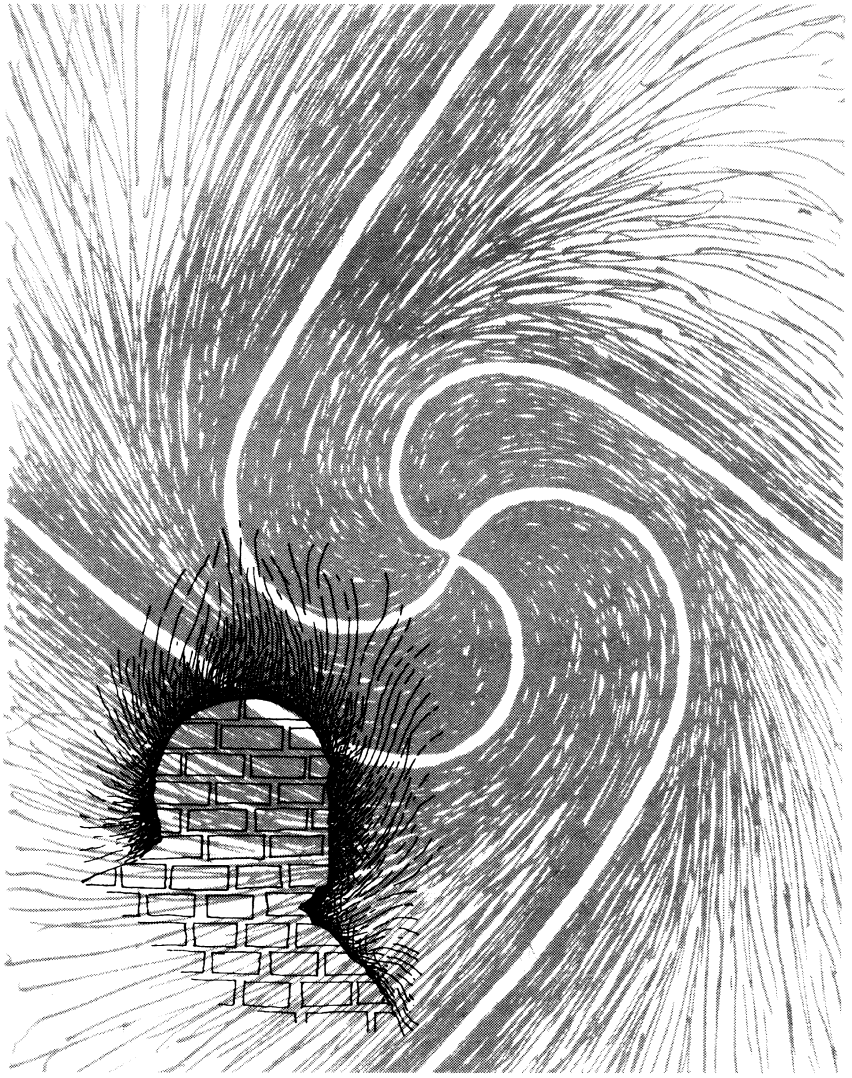

शीलन

महान आदर्श को यदि हमने हृदय में धारण किया है, तन-मन यदि महान आदर्श की लय में बंधा है—आदर्श के साथ स्वयं का अस्तित्व घुला-मिला है—तो इतने से ही हम संतुष्ट हैं, हमारा जीवन दुनिया के लिए व्यर्थ होने पर भी, हमारे अपने (एवं कदाचित् भाग्यविधाता के) आगे व्यर्थ नहीं है। दुनिया का सब-कुछ क्षणभंगुर है, सिर्फ एक ही चीज है जो टूटती नहीं या नष्ट नहीं होती—वह है, भाव या आदर्श। हम लोगों का आदर्श, समाज की आशा-आकांक्षा, हम लोगों की विचारधारा अविनश्वर है। भावना को क्या कोई दीवारों में घेर सका है?

—सुभाषचन्द्र बोस

'क्रोध मस्तिष्क का ज्वर है, हृदय का ज्वर है और एड्रीनल ग्रंथि का ज्वर है। व्यक्ति जब क्रोध करता है, पहला प्रहार मस्तिष्क पर होता है, दूसरा प्रहार हृदय पर होता है और तीसरा प्रहार एड्रीनल ग्रंथि पर होता है। क्रोध के आते ही धड़कन बढ़ जाती है, एड्रीनल ग्रंथि को अतिरिक्त स्राव करना पड़ता है और उसकी शक्तियां क्षीण होने लगती हैं। जब मस्तिष्क की शक्तियां क्षीण होती हैं, तब नाड़ी-तंत्र गड़बड़ा जाता है। हृदय की शक्तियां क्षीण हो जाती हैं, तब समूचा रक्त-संचार अस्त-व्यस्त हो जाता है। जब एड्रीनल ग्रंथि-तंत्र की शक्तियां क्षीण होती हैं, तब व्यक्ति की कर्मजा शक्ति नष्ट हो जाती है।'

कोहो या माणो य अणिग्गहिया

साध्वी ललितप्रभा 'रत्नाटू'

प्राणी की आंतरिक अनुभूति क्रोध है, जिसकी उपस्थिति में प्राणी दूसरे के प्रति आक्रामक व्यवहार प्रदर्शित करता है। क्रोध में उत्तेजना और तनाव, दोनों पाए जाते हैं। फ्रायड और उसके अनुयायी मनोविश्लेषणवादियों ने क्रोध को मृत्युप्रवृत्ति अथवा विनाशवृत्ति के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1]

'मृत्यु मूल प्रवृत्ति से व्यक्ति विनाशात्मक कार्य—जैसे मारपीट, आत्महत्या, दूसरों की हत्या आदि करता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इसका संबंध आक्रमणशीलता से होता है।'[2]

'क्रोध मस्तिष्क का ज्वर है, हृदय का ज्वर है और एड्रीनल ग्रंथि का ज्वर है। व्यक्ति जब क्रोध करता है, पहला प्रहार मस्तिष्क पर होता है, दूसरा प्रहार हृदय पर होता है और तीसरा प्रहार एड्रीनल ग्रंथि पर होता है। क्रोध के आते ही धड़कन बढ़ जाती है, एड्रीनल ग्रंथि को अतिरिक्त स्राव करना पड़ता है और उसकी शक्तियां क्षीण होने लगती हैं। जब मस्तिष्क की शक्तियां क्षीण होती हैं, तब नाड़ी-तंत्र गड़बड़ा जाता है। हृदय की शक्तियां क्षीण हो जाती हैं, तब समूचा रक्त-संचार अस्त-व्यस्त हो जाता है। जब एड्रीनल ग्रंथि-तंत्र की शक्तियां क्षीण होती हैं, तब व्यक्ति की कर्मजा शक्ति नष्ट हो जाती है।'[3]

क्रोध के लक्षण

क्रोधी व्यक्ति की मुखाकृति को यदि देखा जाए तो चेहरा तमतमाया हुआ होता है। आंखें लाल, मुट्ठियां बंधी हुईं और खिंची, आवाज कड़ी और तीव्र, हृदय की धड़कन तीव्र, बढ़ा हुआ रक्तचाप और श्वास की गति भी बढ़ी हुई होती है। पाचन-क्रिया मंद हो जाती है या बंद हो जाती है।[4]

क्रोध का पहला लक्षण है—आंखों का लाल हो जाना। अग्नि तत्त्व के बढ़ जाने से क्रोध उभरता है, भृकुटि तन जाती है।[5]

क्रोध की जन्मभूमि

क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तों के विषय में मनोविज्ञान की जानकारी आकर्षक है। व्यक्ति जो-कुछ भी करता है, वह चेतन अथवा अवचेतन मस्तिष्क के नीचे गहरे में होता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि मस्तिष्क के सबसे ऊपर की परत चेतन मस्तिष्क है। इसके बहुत नीचे 'आदिम मस्तिष्क' है—हिंसा और क्रोध की जन्मभूमि।[6]

हमारे मस्तिष्क में क्रोध की उत्पत्ति का केंद्र है और क्रोध पर नियंत्रण करने का केंद्र भी है। क्रोध एक भाव है। उसका उत्पत्ति केंद्र 'हाइपोथेलेमस' है। उस पर 'सेरेब्रल कोर्टक्स' का नियंत्रण है। वह सामान्य परिस्थिति में चिंतनपूर्वक सूचना प्रेषित करता है कि क्रोध का प्रदर्शन न किया जाए। वह विशेष परिस्थिति में क्रोध करने की सूचना देता है। इसलिए सामान्य परिस्थिति में मनुष्य शांत रहता है। विशेष स्थिति में वह क्रोध करता है।[7] क्रोध के पर्यायवाची शब्द—'कोहे, कोवे, रोसे, दोसें, अखमा, संजलणे, कलहे, चंडिक्के, भंडणे, विवाए'—क्रोध, कोप, रोष, दोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, चांडिक्य, भंडन, विवाद।[8]

क्रोध के प्रकार

स्थानांग सूत्र में क्रोध के चार प्रकार बताए गए हैं—

1. आभोग निर्वर्तित क्रोध, 2. अनाभोग निर्वर्तित क्रोध, 3. उपशांत क्रोध, 4. अनुपशांत क्रोध।

आभोग निर्वर्तित क्रोध

जो मनुष्य क्रोध के विपाक को जानता हुआ क्रोध करता है, उसका क्रोध आभोग निर्वर्तित कहलाता है। डॉ. मलयगिरि के अनुसार एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के अपराध को भली-भांति जान लेता है। उन्हें अपराधमुक्त करने के लिए वह सोचता है कि सामने वाला व्यक्ति नम्रतापूर्वक मानने वाला नहीं है। उसे क्रोधपूर्ण मुद्रा ही पाठ पढ़ा सकती है। इस विचार से वह जान-बूझकर क्रोध करता है। इस प्रकार का क्रोध आभोग निर्वर्तित कहलाता है।[9]

अनाभोग निर्वर्तित क्रोध

जो मनुष्य क्रोध के विपाक आदि को न जानता हुआ क्रोध करता है, उसका क्रोध अनाभोग निर्वर्तित क्रोध कहलाता है। मलयगिरि के अनुसार जो मनुष्य किसी विशेष प्रयोजन के बिना, गुण-दोष के विचार से शून्य होकर प्रकृति की परवशता से क्रोध करता है, उसका क्रोध अनाभोग निर्वर्तित क्रोध कहलाता है।[10]

क्रोध मानसिक घटना नहीं है। उसका संबंध भावतंत्र से है। इसकी उत्पत्ति के दो कारण हैं—1. **अंतरंग**—क्रोध के परमाणुओं का फल। 2. **बाह्य**—परिस्थिति और वातावरण।

विस्तार से समझने का प्रयत्न करें तो क्रोध की उत्पत्ति के चार हेतु बन जाते हैं—1. भूमि क्रोध की उत्पत्ति का कारण है। 2. घर क्रोध की उत्पत्ति का कारण है। 3. शरीर क्रोध की उत्पत्ति का कारण है। 4. पदार्थ क्रोध की उत्पत्ति का कारण है।

क्रोध के तीन प्रकार

बौद्ध साहित्य में क्रोध के तीन प्रकार बताए हैं। पत्थर पर खिंची रेखा के समान, पृथ्वी पर खिंची रेखा के समान, पानी पर खिंची रेखा के समान आदमी (क्रोधी) होते हैं।[11]

स्थानांग सूत्र में क्रोध के चार प्रकार बताए गए हैं—(1) अनंतानुबंधी क्रोध, (2) अप्रत्याख्यान क्रोध, (3) प्रत्याख्यान क्रोध, (4) संज्वलन क्रोध।

अनंतानुबंधी क्रोध

अनंत अनुबंध करता है। जिसमें संतति पैदा करने की अटूट क्षमता होती है, वह अनंतानुबंधी होता है। यह प्रखरतम आवेश हमारी दृष्टि को विकृत करता है। यह ग्रंथिपात का क्रम है। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि जब आवेश प्रबल होता है, तब ग्रंथिपात होता है। यह आवेश आने के बाद जाता नहीं है।

क्रोध के चार प्रकार बताए गए हैं[12]—**अनंतानुबंधी क्रोध**—पत्थर की रेखा के समान। **अप्रत्याख्यान क्रोध**—भूमि की रेखा के समान। **प्रत्याख्यान क्रोध**—बालू की रेखा के समान। **संज्वलन क्रोध**—जल की रेखा के समान।

क्रोध का स्थान

मस्तिष्क मानवीय प्रवृत्तियों का संचालन करने वाला है। उसका एक भाग है—लिंबिक सिस्टम और दूसरा है—हाइपोथेलेमस। ये दोनों लिंबिक क्षेत्र में स्थित हैं। क्रोध का स्थान यहीं है।[13]

क्रोधोत्पत्ति के मनोवैज्ञानिक कारण

प्राणी के लक्ष्यों में अवरोध उत्पन्न होना, दूसरे व्यक्ति के आक्रमण के समय, भूख-प्यास, बीमारी व थकान के कारण, अधिक चिढ़ाने से तथा कुसमायोजन आदि के कारण क्रोध उत्पन्न होता है। आयु, स्वास्थ्य, परिवार का वातावरण और परिवार में सदस्यों की संख्या भी क्रोध को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। क्रोध यद्यपि व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। फिर

भी विपरीत परिस्थितियों में क्रोध के द्वारा व्यक्ति को शक्ति प्राप्त होती है।[14]

जैन दर्शन के अनुसार क्रोधोत्पत्ति के कारण

क्रोधोत्पत्ति के चार कारण हैं—1. **क्षेत्र**—स्थान आदि के कारण क्रोध की उत्पत्ति हो सकती है। 2. **वस्तु**—उपयोग में आने वाली सचित्त-अचित्त आदि वस्तु के कारण क्रोध उत्पन्न हो सकता है। 3. **शरीर**—शरीर के कारण—कुरूप शरीर, शरीरगत रोगादि के कारण क्रोध की उत्पत्ति होना संभव है। 4. **उपधि**—उपकरण, वस्त्र, पात्र आदि के कारण क्रोध आ जाता है। इसी प्रकार स्थानांग सूत्र में क्रोध के चार निमित्त बताए गए हैं—

1. **आत्म-प्रतिष्ठित**—कभी-कभी अपनी भूल के कारण भी क्रोध आ जाता है। 2. **पर-प्रतिष्ठित**—कभी-कभी दूसरों की भूल के कारण भी क्रोध आ जाता है। 3. **तदुभय प्रतिष्ठित**—अपनी भूल और दूसरों की भूल के कारण भी क्रोध आ जाता है। 4. **अप्रतिष्ठित**—बिना किसी निमित्त के ही क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है।[15]

जो व्यक्ति केवल रूखा-सूखा खाते हैं, वे बहुत क्रोधी होते हैं। उनकी प्रकृति चिड़चिड़ी हो जाती है। अतः स्नायविक दुर्बलता और रुक्ष भोजन भी क्रोधोत्पत्ति में निमित्त हैं।[16]

क्रोधोत्पत्ति के व्यावहारिक कारण

कटुवचन वैर का प्रमुख कारण माना जाता है।[17]

वाया दुरूत्ताणि दुरूद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।

कठोर वचन कानों में तीखे शूल-से चुभते हैं।[18]

समावयंता वयणाभिघाया,
कण्णंगया दुम्भाणेयं जणंति।

दुर्योधन के दुर्वचनों से श्रीकृष्ण को क्रोध आ गया था। दुर्मुख दूत के दुर्वचन सुनकर प्रसन्नचंद्र राजर्षि जैसे ध्यानयोगी भी ध्यानभ्रष्ट होकर क्रोधोन्मत्त हो उठे। गौशालक के कटुवचनों से वैश्यायन बाल तपस्वी क्रुद्ध हो उठा था और उस पर तेजोलेश्या छोड़कर भस्म कर डालने को तत्पर हो गया। द्रौपदी के वचनों से ही महाभारत हुआ।[19]

स्वार्थपूर्ति में बाधा पड़ने से—सोमिल ब्राह्मण ने क्षुद्र स्वार्थ के लिए गजसुकुमाल के सिर पर अंगारे रख दिए। **अनुचित व्यवहार के कारण**—यादव कुमारों ने द्वैपायन ऋषि का अपमान किया तो ऋषि ने क्रुद्ध होकर द्वारिका को भस्म कर डाला। **वहम के कारण**—मेतार्य मुनि पर सुनार ने बहम कर लिया कि मेरे स्वर्णयव इसी ने चुराए हैं। अतः क्रोधित हो उठा। **विचार-भेद के कारण**—रक्तक्रांति का मूल कारण विचार-भेद है। नक्सलवाद का तांडव, अगणित निरपराधों के खून से जिसका इतिहास लिखा गया है, मूलतः विचार-भेदजन्य संघर्ष ही है।

आयुर्वेद के अनुसार क्रोधोत्पत्ति के कारण

पित्त को कुपित करने वाले द्रव्य क्रोध को भी कुपित करते हैं। पित्त और क्रोध का गहरा संबंध है।[20]

क्रोध-वेदनीय के प्रबल उदय से अकारण ही व्यक्ति क्रोधित हो जाता है। इस प्रकार के क्रोध को अप्रतिष्ठित क्रोध कहा गया है। उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं, कारण नहीं, निमित्त नहीं। उसका हेतु केवल कर्म के उदय की प्रबलता मात्र है।[21]

क्रोधोत्पत्ति का दार्शनिक कारण

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं[22]—1.दर्शन मोहनीय, 2. चारित्र मोहनीय। **दर्शन मोहनीय**—तत्त्वे तत्त्वश्रद्धा सम्यक्त्वं।[23] यथार्थ तत्त्वश्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहते हैं। इस गुण को मोहित करने वाला कर्म दर्शन मोहनीय है। **चारित्र मोहनीय**—चारित्र में विकार उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल, जिनके कारण आत्मा पूर्ण संचित कर्म राशि को खपा कर अपने असली सच्चिदानंद स्वरूप को प्राप्त करता है, उस उत्कृष्ट आचरण का नाम चारित्र है। चारित्र आत्मा का प्रमुख गुण है। इस गुण को नष्ट करने वाला कर्म चारित्र मोहनीय है। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं—जिसमें कषाय मोहनीय के 16 भेद हैं। नोकषाय मोहनीय के नौ भेद हैं, जो कषाय मोहनीय कषाय भाव का उत्तेजक होता है। कषाय मोहनीय के भेदों में कषाय के सोलह भेद बताए जाते हैं।

क्रोध कषाय मोहनीय के उदय से आत्मा में कषाय भाव का उदय होता है। जिस आत्मा में कषाय मोहनीय का जितना उदय होगा, उसी के अनुसार उसके क्रोधोदय में भी तरतमता रहती है। यह है क्रोधोत्पत्ति का दार्शनिक कारण।[24]

इसे निम्न सारणी से समझा जा सकता है[25]—

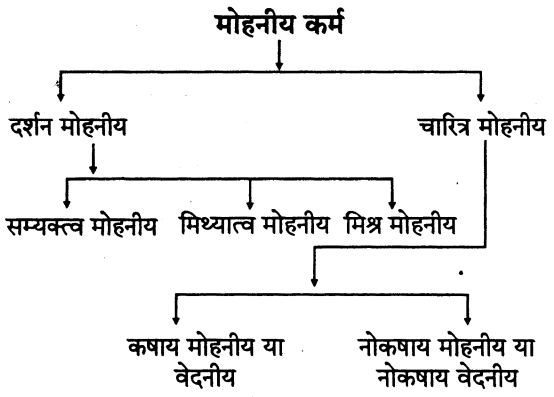

क्रोध ही एक ऐसा है जो कोरा अप्रीत्यात्मक होता है। उसका संबंध द्वेष से है, अप्रीति से है। प्रीति से उसका संबंध नहीं जुड़ता, राग से उसका संबंध नहीं जुड़ता।

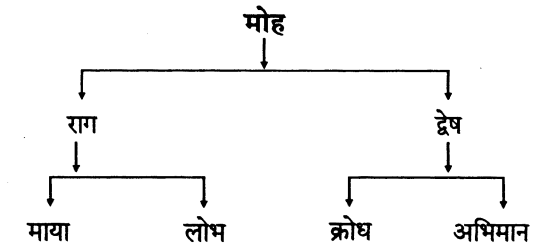

'जैन दर्शनानुसार वृत्तियां दो ही हैं—राग और द्वेष। मूल मनोवृत्तियां दो ही हैं—प्रियता और अप्रियता के भाव।'[26]

फ्रायड ने बहुत विश्लेषण के बाद बतलाया है कि वास्तव में दो ही वृत्तियां हैं—जीवनमूलक और मृत्युमूलक। शेष इन दोनों का विस्तार है।

क्रोध को विभिन्न उपमा से उपमित किया गया है[27]—1. **अनंतानुबंधी क्रोध**—पत्थर की रेखा के समान स्थिरतम। पर्वत के फटने से जो दरार हो जाती है, उसका मिलना बहुत कठिन है। उसी प्रकार जो क्रोध किसी प्रकार से शांत नहीं होता, उसे अनंतानुबंधी क्रोध कहते हैं। अनंतानुबंधी क्रोध सम्यक्त्व का घात करता है एवं जीवनपर्यंत बना रहता है। 2. **अप्रत्याख्यान क्रोध**—मिट्टी की रेखा के समान। सूखे तालाब आदि में जो दरार पड़ जाती है, वह वृष्टि के होने से पुनः मिल जाती है। उसी प्रकार जो क्रोध विशेष परिश्रम करने से शांत हो जाता है, उसे अप्रत्याख्यान क्रोध कहते हैं। यह क्रोध श्रावक व्रत (देशव्रत) का घात करता है। 3. **प्रत्याख्यान क्रोध**—बालू की रेखा के समान। बालू रेत में खींची हुई लकीर वायु से थोड़ी देर में फिर से भर जाती है। उसी प्रकार जो क्रोध साधारण उपायों से शांत हो जाता है, उसे प्रत्याख्यान क्रोध कहते हैं। यह क्रोध महाव्रतों का घात करता है। 4. **संज्वलन क्रोध**—जल की रेखा के समान। जल से खींची हुई लकीर जैसे खींचने के साथ ही मिट जाती है। उसी प्रकार किसी कारण से आया हुआ क्रोध तत्काल शांत हो जाता है। उसे संज्वलन क्रोध कहते हैं। यह क्रोध यथाख्यात चारित्र का घात करता है।

क्रोध के परिणाम—अनंतानुबंधी क्रोध वाला, यानी पत्थर की रेखा के समान क्रोध के परिणाम वाला जीव मरकर नरक में उत्पन्न होता है। पृथ्वी की रेखा के समान क्रोध के परिणाम वाला जीव मरकर तिर्यंच गति में उत्पन्न होता है। बालू की रेखा के समान क्रोध के परिणाम वाला जीव मरकर मनुष्य गति में उत्पन्न होता है। जल की रेखा के समान क्रोध के परिणाम वाला जीव मरकर देवयोनि में उत्पन्न होता है।[28]

हरत्येक दिननैव ज्वरं षण्मासिक बलम्
क्रोधेन तु क्षणेनैव कोटिपूर्वार्जितं तपः।।

अर्थात्—एक दिन का ज्वर छह महीने की अर्जित शक्ति को नष्ट कर डालता है, वैसे ही क्षण-भर का क्रोध क्रोड़पूर्व की तपस्या को मिट्टी में मिला देता है।[29]

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है। माया मैत्री को नष्ट करती है। लोभ सभी गुणों को नष्ट कर देता है।[30]

कोहो या माणो य अणिग्गहिया,
माया च लोभो य पवड्ढमाणा
चत्तारि ए ए कसिणा कसाया,
सिंचति मूलाई पुणब्भवस्सस।।

अनिग्रहीत, अनियंत्रित क्रोध और मान बढ़ते हुए माया और लोभ के भाव ऐसे कषाय हैं जो पुनर्भव रूपी वृक्ष की जड़ों को सींचते रहते हैं।

शरीर-शास्त्री के अनुसार एक स्वस्थ मनुष्य दिन में साढ़े नौ घंटों तक कठोर श्रम करने पर जितनी थकावट का अनुभव करता है, साढ़ै नौ घंटों के श्रम में जितनी शक्ति क्षीण होती है, उतनी शक्ति पंद्रह मिनट के क्रोध से क्षीण हो जाती है।[31]

क्रोध के समय व्यक्ति के भाव नकारात्मक हो जाते हैं। एक मिनट में पैंतीस श्वास आने की स्थिति बन जाती है। मस्तिष्क के बहुत-से 'न्यूरोन्स' शिथिल अथवा नष्ट हो जाते हैं। एक मिनिट का क्रोध केवल मानसिक शांति के क्षरण का ही कारण नहीं बनता है, बल्कि रक्त भी काफी काला पड़ जाता है। रक्त काला होने से रोगोत्पत्ति एवं आयु क्षय का कारण बन जाता है।[32]

भोजन के समय क्रोध (कलह) करने से अग्नि मंद हो जाती है।[33]

क्रोध से मनुष्य की अधोगति होती है।[34]

क्रोध प्राणों को लेने वाला, एक मित्र के रूप में आने वाला शत्रु है। क्रोध तीक्ष्ण तलवार के समान सबकी अवनति करने वाला है।[35]

क्रोध से श्वास की गति, हृदय की गति, रक्तचाप, पाचन क्रिया तथा रक्त में रासायनिक परिवर्तन, त्वक् प्रतिक्रियाओं तथा मानस तरंगों में परिवर्तन एवं ग्रंथियों की क्रियाओं में परिवर्तन होता है।[36]

क्रोध-विजय के सैद्धांतिक उपाय

भगवान महावीर ने कहा है कि क्रोध को उपशम से, मान को मृदुता से, माया को ऋजुता से, लोभ को संतोष से जीतना चाहिए।[37] क्रोध को क्षमा से, अभिमान को मृदुता से, माया को निर्मल ऋजुता से और समुद्र की भांति भयंकर लोभ को समुन्नत संतोष जैसे सेतु के द्वारा निरोध।[38]

चीनी संत कन्फ्यूशियस का कथन है कि क्रोध उठे तब उसके नतीजों पर विचार करो। बाइबिल में लिखा है—क्रोध करने में विलंब करना विवेक है और शीघ्रता करना मूर्खता।

गुस्सा आने के समय बैठ जाओ। फिर भी शांत न हो तो लेट जाओ।[39]

क्रोध का एक ही इलाज है—विलंब।[40]

क्रोध को विफल करने के दो उपाय हैं—क्रोध के दुष्परिणामों पर विचार करना और (2) आत्मचिंतन करना।[41]

क्रोध का प्रत्युत्तर क्रोध से नहीं, प्रेम-व्यवहार से होना चाहिए।[42]

अच्छे से अच्छे गुण भी क्रोध के आवेश में दब जाते हैं। क्रोध क्षणिक पागलपन है।[43]

क्रोध को पीना इंसानियत है।[44]

क्षमा से क्रोध को जीतना चाहिए।[45]

क्रोध रूपी अग्नि को उपशांत करने के लिए मेघ-तुल्य उपशम रस का तू मानसिक अनुशीलन कर और अपने अंतःकरण में विनय को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कर; गुणोत्कर्षयुक्त वैराग्य को धारण कर।[46]

क्रोध विजय से लाभ

क्रोध विजय से क्षमता को प्राप्त कर सकते हैं। क्रोध-वेदनीय कर्म का बंध नहीं होता है। पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा होती है।[47]

कोहं असच्च कुव्वेज्जा

'कोहोदय निरोहो वा उदय प्पत्तस्य, वा कोहस्स विफलीकरणं।'[48]

अर्थात् क्रोध के उदय को रोकना। उदय में आए हुए क्रोध को विफल बना देना।

'महप्पसाया इ सिणो हवंति, न हु मुणि कोवपरा हवंति।'[49]

महान ऋषि प्रसन्न-चित्त होते हैं, मुनि कोप नहीं किया करते। क्रोध का प्रत्युत्तर क्रोध नहीं, क्षमा है। यदि दूसरा व्यक्ति अपने कर्मों के परवश होकर क्रोध करता है, तो क्या हमें भी हृदय से रोष की अधीनता स्वीकार करनी चाहिए? कदापि नहीं।[50]

जिसके पास क्रोधाग्नि को शांत करने वाला क्षमाशस्त्र है, उसकी सदा जय होती है। क्योंकि वहां शत्रुओं का उदय ही नहीं होता।[51]

जो क्रोध नहीं करता, वह महान होता है। किंतु, वह भी महान होता है, जो क्रोध को विफल कर सकता है। क्रोध की विफलता के चार सूत्र हैं—1. जहां क्रोध आए वहां से उठकर एकांत में चले जाना। 2. मौन हो जाना। 3. किसी काम में लग जाना। 4. एक क्षण के लिए श्वास को रोक देना।[52]

जिनका क्रोध उपशांत रहता है, उनको सहज ही दोहरा लाभ उपलब्ध हो जाता है। प्रथम तो निकाचित कर्मों का बंधन नहीं होता और द्वितीय, संबंधों का पारावार उनके साथ जुड़ जाता है। स्नेहिल एवं मधुर व्यवहार की सुरभि यत्र-तत्र सर्वत्र सुरभित होने लगती है और इसी से व्यक्ति की सर्वथा अलग और अनूठी पहचान बन जाती है।[53]

वही शूर है, बलशाली है, विद्वान है, तपस्वी एवं जितेंद्रिय है, जिसने क्षांत्यादि खड्ग द्वारा क्रोध-शत्रु को नष्ट कर दिया।[54]

गुस्सा आए तो मुंह में मिश्री की डली लेकर चूसने लग जाओ, ध्यान बंट जाएगा। ध्यान बंटते ही गुस्सा मंद हो जाएगा। गुस्सा आए तो मुंह में पानी भर लो। पानी को निगलो मत। गुस्सा बदल जाएगा।[55]

जिस चांडाल से घृणा की जाती है वह है—क्रोध। क्या कोई ऐसा आदमी है जिसके घट में क्रोध उफन रहा है और वह चांडाल नहीं?[56] **यो उत्पतितं विनेति क्रोधं विसठं सप्प विसंउव ओसधेहिं**—जैसे कुशल सारथि दौड़ते हुए अश्व को लगाम खींचकर उत्पथ में ले जाकर रोक लेता है, कुशल वैद्य देह में फैलते हुए सर्व विष को औषधि के द्वारा शांत कर देता है, वैसे ही भिक्षु चढ़े हुए क्रोध को शांत कर देता है।[57]

जो क्रोध न करे वह शिक्षाशील कहलाता है—**अकोहेण सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई**।[58]

चौदह स्थानों में वर्तन करने वाला संयमी अविनीत कहा जाता है।

अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण व मज्जई।।

जो बार-बार क्रोध करता है, जो क्रोध को टिका कर रखता है, जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है, जो मित्रों पर कुपित होता है। वह श्रुत (शिक्षा) के लिए अयोग्य होता है।[59]

क्रोध की उत्तेजना 'एड्रीनल ग्लैण्ड' के माध्यम से प्रकट होती है। शशांकासन एड्रीनल के स्राव का नियमन करता है। इसलिए शशांकासन क्रोध के आवेश पर नियंत्रण पाने का एक उत्तम उपाय है।[60]

क्रोध को असफल करने के मनोवैज्ञानिक सुझाव

डॉ. जार्ज स्टीवेंसन और डॉ. टील ने अपनी पुस्तक 'लाइफ टेंसन एंड रिलेक्सेशन'—में तनावमुक्ति के उपाय बताए हैं। क्रोध के समय में शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए। इसी तरह क्रोध के समय में स्वाध्याय या मनोरंजन में लग जाना चाहिए।[61] कुछ अन्य व्यावहारिक सुझाव भी हो सकते हैं। जैसे—आवेग के समय मौन हो जाना चाहिए।[62] श्वास रोकना चाहिए।[63]

कभी क्रोध का आवेश आए, कभी वासना का आवेश आए, कभी भयंकर कल्पना, कभी लुभाने वाली बात आए तो तत्काल कुंभक कर लें, आवेश टल जाएगा। एक बार आवेश को टाल देते हैं तो उसका वेग समाप्त हो जाता है।[64]

श्वास संयम की प्रक्रिया वृत्ति-चक्र के प्रतिरोध की उत्तम प्रणाली है।

क्रोध-विजय की आध्यात्मिक चिकित्सा

मूर्च्छाओं और संज्ञाओं के मुक्त होने का पहला उपाय है—श्वास का आलंबन। वृत्तियों को क्षीण करने का शारीरिक प्रक्रिया में सबसे बड़ा स्थान है—सहस्रार-चक्र। यह ज्ञान-केंद्र है। इस पर ध्यान केंद्रित करने पर वृत्तियों का क्षय होता है, संज्ञाएं शांत होती हैं। आनंद-केंद्र (हृदय), विशुद्धि-केंद्र (कंठ) और ज्ञान-केंद्र (मस्तिष्क) पर जितना चित्त का स्थिरीकरण होगा उतना ही वृत्तियों का क्षय होगा। इस स्थिरीकरण का परिणाम है—वृत्तियों का क्षय, मूर्च्छाओं का विनाश और संज्ञाओं की समाप्ति।[65]

पीनियल ग्रंथि का हारमोन मेलाटोनिन भावनात्मक परिवर्तन—क्रोध, भय आदि—के लिए उत्तरदायी है। पीनियल ग्रंथि (ज्योति-केंद्र) पर सफेद रंग का ध्यान करने से क्रोध पर नियंत्रण किया जा सकता है।[66]

जिस व्यक्ति में क्रोध आए, उसमें पित्त की प्रधानता होगी। जब तक पित्त का शमन नहीं होता है, क्रोध का शमन होने में भी कठिनाई रहती है। प्रेक्षाध्यान में क्रोध के शमन हेतु सफेद एवं नीले रंग का ध्यान कराया जाता है। ज्योति-केंद्र, आनंद-केंद्र और विशुद्धि-केंद्र पर नीले रंग का ध्यान, पूरे शरीर पर सफेद और नीले रंग का ध्यान कराया जाता है।[67]

क्रोध चिकित्सा के प्रयोग

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्रेक्षाध्यान के द्वारा क्रोध-मुक्ति के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किए हैं। कुछेक निम्नानुसार हैं—

आसन—शशांकासन, योगमुद्रा, कायोत्सर्ग।

प्राणायाम—खेचरीमुद्रापूर्वक दीर्घश्वास, केवल कुंभक (5 मिनट)।

प्रेक्षा—ज्योति-केंद्र और पूरे ललाट पर सफेद रंग का ध्यान (समय 10 मिनट)।

जप—'ॐ शांते प्रशांते सर्वक्रोधोपशमनी स्वाहाः।' (31 बार बोलकर हथेली को मुंह पर फेरें)।

मुद्रा—खेचरी मुद्रा लगाकर मस्तिष्क को सुझाव दें—'हर परिस्थिति में शांत रहूंगा।[68]

अनुप्रेक्षा—मैं क्रोधी नहीं हूं। क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है (5 मिनट)। मैंने क्रोध किया हो तो उसका मैं प्रायश्चित्त करता हूं। मैं क्रोध नहीं करूंगा (समय 5 मिनट)।

मुद्रा—ज्ञानमुद्रा, हंसीमुद्रा, मृगीमुद्रा—ये तीन मुद्राएं हैं और इनकी साधना से क्रोध आना कठिन हो जाएगा। ❖

संदर्भ :

1. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान : डॉ. प्रीति वर्मा, डॉ. डी.एन. श्रीवास्तव, पृ. 443
2. उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान : अरुण कुमारसिंह, पृ. 584
3. आभामंडल : आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, पृ. 72 (स्वभाव परिवर्तन)
4. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान : प्रीति वर्मा, श्रीवास्तव, पृ. 443
5. मैं कुछ होना चाहता हूं, पृ. 29
6. चित्त समाधि : जैन योगः सं. डॉ. नथमल टांटिया, सन् 1986, पृष्ठ 71
7. समवायांग, पृ. 52, भगवती 12, 5, 103
8. तुम स्वस्थ रह सकते हो, पृष्ठ 28
9. ठाणांग सूत्र 4/88
   चउव्विहे, कोहे पण्णत्ते, तं जहा-आभोगणिव्वत्तिते, अणाभोगणिव्वत्तिते, उवसंते, अणुवसंते।
10. स्थानांगवृत्ति : अभयदेव, चित्त समाधि : जैन योग, पृ. 72
11. चित्त समाधि : जैन योग, पृ. 72
12. ठाणं 4/85 : **चउव्विहे कोहे पण्णत्ते तं जहा—**
    अणंतानुबंधी कोहे, अपच्चक्खाण कसाए कोहे, पच्चक्खाणावरणे कोहे, संजलणे कोहे।
13. कर्मवाद, पृष्ठ 82, 83
14. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान : डॉ. प्रीति वर्मा, डॉ. डी.एन. श्रीवास्तव, 10वां संस्करण, पृष्ठ 443
15. ठाणं सूत्र 4/76 चित्त समाधि : जैन योग : चउपर्तिट्ठिते कोहे पण्णत्ते, तं जहा-आतपतिट्ठिते, परपतिट्ठिते तदुभयपतिट्ठिते, अपतिट्ठिते।
16. अनेकांत है तीसरा नेत्र, पृ. 130
17. दसवेआलियं सूत्र 9/3/7
18. दसवेआलियं सूत्र 9/3/8
19. जैन धर्म में तप, पृ. 326
20. मैं कुछ होना चाहता हूं, पृ. 13
21. चेतना का ऊर्ध्वारोहण, पृ. 160
22. ठाणं 2.4.105, उत्तराध्ययन 33.8
23. जैन सिद्धांत दीपिका, जैन तत्त्वप्रवेश भाग-1, अमृतकलश भाग-2, पृष्ठ 258
24. जैन धर्म में तप, पृष्ठ 327
25. कर्मवाद, पृष्ठ 21
26. समयसार 167, 282, समयसार, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 133:132
    रागम्हि दोसम्हि य कसाय कम्मेसु चेव जे भावा।
    तेहिं दु परिणमंत्तो रागादी बंध दे चेदा।।
27. प्रज्ञापना 14.188 23.293 टीका।
    स्थानांग सूत्र-4/91
28. ठाणं 4/354 पव्वयराइसमाणं कोहमणुप्पाविट्ठे जीवे कालं करेइ ठोरइएसु उववज्जंति। पुढ़विराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ तिखिक्खजोणिएसु उववज्जंति। वालुराइंसमाणं कोह मणुप्पविद्ध जीवे कालं करेइ मणुस्सेसु उववज्जंति। उदग राइ समाणं कोह मणुप्पविद्धे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जंति।
29. नीतिशास्त्र
30. दसवेआलियं 8.39
31. अप्पाणं शरणं गच्छामि, पृष्ठ 106
32. प्रेक्षाध्यान, नवम्बर अंक 2004, साध्वी कान्तयशा
33. पंचसूत्रम्: आचार्यश्री तुलसी 4/14
    कलहो न हितः क्वचिदपि, परमाहार क्षणे विशेषेण।
    भोजन समये कलहं कुर्वन्नङिनं नयति मन्दत्वम्।।
34. उत्तराध्ययन 9/54 'अहे वयइ कोहेणं।'
35. वाल्मीकि रामायण 75/99.2/21
    क्रोधः प्राणहरः शत्रु क्रोधो मित्रमुखो रिपुः।
    क्रोधोह्यसिर्महातीक्ष्णः सर्व क्रोधोपकर्षति।।
36. चित्तसमाधि : जैन योग, पृ. 76
37. दसवेआलियं 8/39
    उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
    मायं चज्जवभावेण, लोभ सन्तोस ओ जिणे।।
38. शांत सुधारस : संवर भावना
    क्रोध क्षान्त्यां मार्दवनाभिमानं, हन्या माया मार्जवेनोज्जवलेन।
    लोभं वारांराशि रौद्रं निरून्ध्याः, सन्तोषेणे प्रांशुना सेतुमेव।।
39. इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब।
40. सैनेका नामक विदेशी विचारक।

41. जैनधर्म में तप, पृष्ठ 334
42. समस्या को देखना सीखें : आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, पृष्ठ 206
43. होरेस
44. महात्मा गांधी
45. धम्मपद-223 : अक्कोधेन जिणे क्रोधं
46. शान्त सुधारस भावना, मैत्री भावना, पृष्ठ 772
उपशम रस मनुशीलय मनसा, रोषदहन जलद प्रायम्।
कलय विरागं धृतपरभागं, ह्रदि विनयं नायं नायम्।।3।।
47. उत्तराध्ययन 24/48
कोह विजएणं खंतिं जणयइ, कोह वेयणिज्जं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।
48. उत्तराध्ययन : 1/4
49. उत्तराध्ययन : 12/31
50. शांत सुधारस भावना : मैत्री भावना, पृष्ठ 72
यदि कोपं कुरूते परो निज कर्मवशेन।
अपि भवता किं भूयते ह्रदि रोष वशेन्।।3।।
51. पद्मपुराण : **यस्य क्षान्तिमयं शस्त्रं क्रोधाग्नेरूपशामनम्।**
नित्यमेव जयस्तस्य, शत्रूणामुदयः कुतः।।
52. समस्या को देखना सीखें, पृष्ठ 171, पंचसूत्रम् : आचार्यश्री तुलसी, पृ. 23
53. प्रेक्षाध्यान, नवंबर अंक 2004 (साध्वी कांतयशा)
54. पद्मपुराण : **स शूरः सात्त्विको विद्वान्, स तपस्वी जितेन्द्रियः।**
येन क्षान्त्यादि खड्गेन, क्रोध शत्रु निंपातितः।।
55. अप्पाणं शरणं गच्छामि, पृष्ठ 107
56. समस्या को देखना सीखें, पृष्ठ 170
57. सुत्तनिपात-1/1-2
58. उत्तराध्ययन-11/5
59. उत्तराध्ययन-11/7, 8
60. तुम स्वस्थ रह सकते हो, पृष्ठ 28
61. अप्पाणं शरणं गच्छामि, पृ. 106
62. पंचसूत्रम् : आचार्यश्री तुलसी 5/50—**तदाऽपरेण मौनस्या लम्बनं क्रियतां वरम्।**
63. पंचसूत्रम् 5/51।—**मौनं नालम्बितुं शल्यं यदि सामान्य भावतः तदा श्वास निरोधस्यालम्बनं क्रियतां क्षणं।**
64. चेतना का ऊर्ध्वारोहण, पृ. 94
65. चेतना का ऊर्ध्वारोहण, पृ. 95
66. तुम स्वस्थ रह सकते हो, पृष्ठ 28
67. आमंत्रण आरोग्य को, पृष्ठ 197
68. तुम स्वस्थ रह सकते हो : आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, पृष्ठ 62

❖❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपर्युक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

शिक्षा, साहित्य और कला हो, या कि जप-तप और साधना हो—जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, यदि ऊंचाइयां पानी हैं तो धैर्य की मजबूत धरा जरूरी है। जल्दबाजी से कच्चे-खट्टे फल तो मिल सकते हैं, मीठे-पके फल नहीं मिलते। मधुर फल चाहिए तो धैर्य रखना जरूरी है। जीवन में उतार-चढ़ाव के अनेक प्रसंग उपस्थित होते हैं। उन कठिन घड़ियों में धैर्य खो देने वाला लुट जाता है। धैर्य का धनी न पिटता है, न मिटता है। जिसने धैर्य धारण करना सीख लिया, मानिए उसने लड़ाई जीत ली।

दंडकारण्य का भयंकर वन, कंकड़-पत्थरों से ऊबड़-खाबड़ मार्ग, राक्षसों के उपद्रव, सेना व सेवकों का सर्वथा अभाव, खान-पान-शयन की असुविधा और ऊपर से सीताहरण का संताप। किंतु, राम और लक्ष्मण ने सारे कष्टों को धैर्य से सह लिया तो सहायकों का अपार सहकार भी मिल गया। उसी धीरज ने राम को विजयी तथा सीता को मुक्ति का आनंद दिलाया और ऐसा इतिहास बनाया कि आज भी वह जन-जन की जुबान पर है।

धृति में है सफलता के सोपान

मुनि धर्मचंद 'पीयूष'

हम धृति को धर्म का प्रमुख अंग कह सकते हैं। इसे आत्मा का असली धन भी कहा जा सकता है और सफलता का आधार एवं श्रेष्ठ गुण भी मान सकते हैं। जीवन को सहेजने, संवारने, निखारने वाले जितने सद्गुण हैं, धृति उनमें प्राण भरती है। धृति के बिना तप और जप—सभी निष्प्राण-से हो जाते हैं।

टॉलस्टाय से एक जिज्ञासु युवक ने पूछा—'सफलता का सूत्र क्या है?' टॉलस्टाय ने कहा—'धृति—धैर्य।' युवक का प्रतिप्रश्न था—'कार्यक्षमता, कार्यकुशलता, व्यवहार-निपुणता, सच्चरित्रता आदि सफलता के सूत्र हो सकते हैं, पर धृति भी सफलता का सूत्र है—यह बात समझ में नहीं आती।' टॉलस्टाय ने पुनः दोहराया—'निश्चय ही सफलता का सर्वोत्तम साधन है—धृति। धृति के बिना सफलता मिल नहीं सकती।' युवक ने फिर कहा—'क्या धृति रखने से चलनी में पानी ठहर सकता है?' टॉलस्टाय ने समाधान की भाषा में प्रत्युत्तर दिया—'क्यों नहीं? अवश्य ठहर सकता है, पर तब तक धैर्य रखना होगा, जब तक कि वह जमकर बर्फ न बन जाए।'

शिक्षा, साहित्य और कला हो, या कि जप-तप और साधना हो—जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, यदि ऊंचाइयां पानी हैं तो धैर्य की मजबूत धरा जरूरी है। जल्दबाजी से कच्चे-खट्टे फल तो मिल सकते हैं, मीठे-पके फल नहीं मिलते। मधुर फल चाहिए तो धैर्य रखना जरूरी है। जीवन में उतार-चढ़ाव के अनेक प्रसंग उपस्थित होते हैं। उन कठिन घड़ियों में धैर्य खो देने वाला लुट जाता है। धैर्य का धनी न पिटता है, न मिटता है। जिसने धैर्य धारण करना सीख लिया, मानिए उसने लड़ाई जीत ली।

दंडकारण्य का भयंकर वन, कंकड़-पत्थरों से ऊबड़-खाबड़ मार्ग, राक्षसों के उपद्रव, सेना व सेवकों का सर्वथा अभाव, खान-पान-शयन की असुविधा और ऊपर

से सीताहरण का संताप। किंतु, राम और लक्ष्मण ने सारे कष्टों को धैर्य से सह लिया तो सहायकों का अपार सहकार भी मिल गया। उसी धीरज ने राम को विजयी तथा सीता को मुक्ति का आनंद दिलाया और ऐसा इतिहास बनाया कि आज भी वह जन-जन की जुबान पर है। यह एक यथार्थ है कि मनुष्य यदि धैर्य धरे तो प्रत्येक सफलता प्राप्त हो सकती है। इसीलिए कहा गया—'धीरे-धीरे रे मना! धीरे सब-कुछ होय'.।

महाराणा प्रताप सब-कुछ हार चुके थे, जंगलों में भूखे-प्यासे भटकते रहे। मुगलों की ताकत से बराबर लोहा लेते रहे। संकट की घड़ी में भी सुअवसर की प्रतीक्षा करते रहे। धैर्य को नहीं खोया, तो धैर्य ने भी सुफल प्रदान किया। भामाशाह जैसे देशभक्त, अनासक्त नरपुंगव का सहयोग मिला, सेना जुटाई, सफल हुए और संपूर्ण विश्व को स्वतंत्रता का पाठ पढ़ा गए। सच में, संकट के समय धीरज धारण करना ही मानो लड़ाई जीत लेना है।

भारत में अपनी गहरी जड़ें जमाए बैठे अंग्रेजों को भगाना आसान काम नहीं था। किंतु, एक-न-एक दिन स्वतंत्र होकर रहेंगे, लड़ेंगे-मरेंगे, पर डरेंगे नहीं—इस विश्वास-भरे धैर्य ने, लंबी लड़ाई लड़ने के बाद भारत को स्वतंत्र बनाया। धैर्य से सफलता पाने के अनगिनत प्रसंग विश्व-इतिहास में भरे पड़े हैं। सफलता के लिए धैर्य के साथ कष्ट झेलने ही पड़ते हैं।

पर, बहुत से लोगों का धैर्य चुक भी जाता है। छोटी-छोटी बातों पर झगड़ पड़ना, नाराज हो रूठ जाना, बांहें चढ़ा लेना, सड़कों पर उतर आना—अधीरता का लक्षण है। यही अधीरता हमारे सामाजिक ताने-बाने को तार-तार कर रही है। किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए अधीरता रोड़ा है, तो धैर्य हर क्षेत्र में सफल होने का अमोघ मंत्र है।

धर्म के क्षेत्र में भगवान महावीर को अपार कष्ट झेलने पड़े, पर महावीर का धैर्य नहीं डोला। वे लक्ष्य से तनिक भी इधर-उधर नहीं हुए। उन्हें बाह्य शत्रुओं से ही नहीं, अंतःशत्रुओं, अपने कर्मों से भी जूझना पड़ा था। काम, क्रोध, लोभ आदि से भी लड़ना पड़ा था। आगम कहते हैं—दस लाख शत्रुओं से जूझने वाले वीर मिल सकते हैं, किंतु अंतर-अरियों पर विजय पाने वाला कोई महावीर ही हो सकता है। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा है—'नहि इसो दूसरो जग वीर, उपसर्ग सहिबा अडिग जिनवर, सुरगिरि जेम सधीर'—महावीर के अचल-अटल मेरु से धैर्य ने उन्हें कैवल्य प्रदान किया, वे तीर्थंकर बन गए। बाह्य शत्रुओं से लड़ना वीरता है, पर आत्म-शत्रुओं—काम-क्रोध आदि—से जूझना महावीरता है।

वीतराग महावीर की वाणी का अनुसरण-अनुगमन करने वाले आचार्यश्री भिक्षु भी लगभग वीतराग कल्प ही बन गए थे। जब सिद्धांतसम्मत आचार-विचार, पालन-प्ररूपण के सत्य मार्ग को आचार्यश्री भिक्षु ने चुना, तब उन्हें उस मार्ग में आने वाले घोर परीषहों, उपसर्गों का पूरा-पूरा एहसास था। यदि वे क्रांति न करते और स्थिति-पोषकता के पथ पर ही चलते रहते तो पूर्ण सुख-सुविधा और सम्मान संप्राप्त था, पर सत्य-संधित्सु भिक्षु और उनके साथियों को यह कतई स्वीकार्य नहीं था। प्रकृति का नियम है कि क्रांतिकारी महापुरुषों को प्राणांतक कष्ट झेलने पड़ते हैं। कष्ट-कंटकों को झेलकर ही महापुरुष चमकते हैं, तभी तप का तेज निखरता है। उनका एक ही ध्येय था—आत्म-कल्याण। उनके शब्दों में—'आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देस्यां'—भारतीय ऋषि-मानस से उद्भूत शाश्वत स्वर—'कार्यंवा साधयेयं, देहंवा पातयेयम्'—करेंगे या मरेंगे का ही पुनरुच्चार था।

स्वामी भीखणजी के विरुद्ध उस काल में द्वेष व घृणा के भाव तीव्रता से भरे गए थे। स्थिति ऐसी थी कि सिद्धांतसम्मत तत्त्व-निरूपण एवं विशुद्ध आचार-विचार की बात सुनने, समझने व मनन-अनुगमन करने को कोई राजी नहीं था। किंतु स्वामी भीखणजी का धैर्य क्षण-भर के लिए भी विगलित नहीं हुआ। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भिक्षु अष्टकम् में लिखा है—'अलब्धे प्याहारे सुमति रचल न्नो क्षणमपि। न लब्धं सुस्थानं तदपि पथि नीते स्थिरमतिः'—वर्षों तक न पूरा आहार-पानी, न रहने योग्य स्थान, फिर भी उनके वचनों से अनुप्राणित निर्मल भावधारा बहती रही, न किसी के प्रति ईर्ष्या, न स्पर्धा, न निंदा, न अवहेलना का भाव। एकमात्र आत्म-कल्याण का लक्ष्य था। उनके लिए जिन-वाणी-सम्मत सिद्धांत और आचार के प्रति गहरी निष्ठा, पूर्ण प्रतिपालना और निर्भय प्ररूपणा का ध्येय था।

शेष पृष्ठ 58 पर

लेकिन भाइको शुक्रवार की जगह शनिवार को आया। इस बार उसकी आंखें बाहर को निकली पड़ रही थीं। उसने अपने सिर पर 'आइस बैग' यानी बर्फ से भरी थैली रखी हुई थी। इसलिए उसे पिछले पंजों के बल पर चलकर आना पड़ा और वह वैसे ही डॉक्टर के सामने आ खड़ा हुआ।—'डॉक्टर' वह गुर्राकर बोला—'मेरे कानों में लगातार 'भिन्न....भिन्न' की आवाज आने लगी है। कृपाकर उसे रोक दो। मुझे ऐसा लग रहा है कि मैं खुद मधुमक्खियों का एक बड़ा-सा छत्ता बन गया हूं।'

दोस्ताना व्यवहार

प्रतिभा नाथ

डॉक्टर शेरसिंह ने दीवार घड़ी की तरफ देखा—सात बजकर पैंतालीस मिनट हुए थे। सभी मरीज जा चुके थे। बाहर की बेंच पर अब कोई भी मरीज नहीं था। उन्होंने अपना चश्मा उतारा, फिर दोनों हथेलियों से आंखों को दबाया। लगातार मरीजों को देखने से वह थक गए थे।

पशु-चिकित्सक होना आसान काम नहीं। हाथों को फैलाकर उन्होंने अंगड़ाई ली और कुर्सी पर अधलेटे-से हो गए। कुछ मिनट यों ही पड़े रहने के बाद वह उठे और उन्होंने अपना सामान ठीक करना शुरू किया। स्टैथोस्कोप, थर्मामीटर, इंजेक्शन की सिरिंज को बैग में रख लिया। बैग को वह हर रोज घर ले जाते हैं, क्योंकि कभी भी अचानक उसकी जरूरत पड़ सकती है।

बालकथा

घर जाने के लिए वह अभी बाहर निकल ही रहे थे कि कमरे का दरवाजा खुला। एक बड़ा-सा कुत्ता अंदर आया। कुत्ते को देखकर ऐसा लगा कि वह ठीक से चल नहीं पा रहा है। कुत्ते ने कुर्सी पर बैठने की कोशिश की, पर वह बैठ नहीं सका। नीचे जमीन पर ही लुढ़क गया। उसकी टांगें फैल गईं, आंखें ऊपर की ओर चढ़ गईं और सांस लेने में भी उसे परेशानी महसूस होने लगी।

उन्होंने फौरन अपना बैग खोला, स्टैथोस्कोप कान में लगाया और उसके दिल की धड़कन सुनने लगे। स्टैथोस्कोप में धड़कन की आवाज ऐसी आ रही थी मानो कोई घोड़ा दौड़ रहा है। आवाज साफ और ठीक थी। फिर उन्होंने उसकी नाक को छुआ। नाक बर्फ की तरह ठंडी थी। उन्होंने उसे थपथपाया और बोले—'तुम तो बिल्कुल ठीक हो!'

—'कौन, मैं?'—कुत्ते ने बड़बड़ाते हुए कहा। उसकी आंखें अभी भी चढ़ी हुई थीं। 'कौन कहता है मैं बिल्कुल ठीक हूं?'

—'मैं कहता हूं, तुम बिल्कुल ठीक हो। आखिर तुम्हें हुआ ही क्या है?'

—'सब-कुछ तो हो गया है, डॉक्टर साहब! मेरे अंदर भारी गड़बड़ है। यहां तक कि मैं सो नहीं पाता।'

डॉक्टर शेरसिंह ने डॉक्टरी अंदाज में सिर हिलाया—'अच्छा.... अच्छा, चलो पहले तुम कुर्सी पर बैठ जाओ, फिर मैं तुमसे बात करूंगा।'

कुत्ते ने अपने शरीर को समेटकर टांगों को खींचा

और कुर्सी पर बैठते हुए बोला—'क्या मैं अपना सिर आपकी मेज पर रख लूं?'

—'हां, रख लो।'

उसने अपना सिर मेज पर टिका दिया और फिर उसने एक आंख खोलते हुए कहा—'हां, अब ठीक है।'

डॉक्टर शेरसिंह ने अपना गला खंखारा। फिर कहा—'तुम इतने लंबे-चौड़े कैसे हो गए?'

—'मेरी कद-काठी मेरे पूर्वजों की तरह है। मेरे पूर्वज डेनमार्क के रहने वाले थे।'

—'अच्छा तो तुम डेनमार्क और हिंदुस्तान के मिले-जुले परिवार के बच्चे हो। तुम नहीं जानते कि ऐसे मामलों में क्या करना चाहिए?' कहते हुए डॉक्टर साहब पैड पर जल्दी-जल्दी कुछ लिखने लगे।

—'तुम्हें यह अनिद्रा रोग कब से है?' डॉक्टर शेरसिंह ने पूछा।

—'अनिद्रा रोग?'

—'हां, हां—यह नींद न आने की बीमारी तुम्हें कब से है?'

—'लगभग दो महीने से।'

—'क्या तुम्हारी खुराक व खान-पान में भी कोई बदलाव आया है?'

—'हां, मैं अपनी तंदुरुस्ती बनाए रखने के लिए दूसरों से अधिक ही खाता था।'

—'वह तो दिख ही रहा है, पर तुम कितने बजे सो जाते हो?'

—'यही कोई दस बजे। उसी समय, जब आदमी लोग सोते हैं।'

—'क्या तुमने नींद लाने के लिए कुछ किया है?'

—'जी हां!' उसने एक लंबी सांस लेते हुए कहा—'मैंने क्या नहीं किया। मैं बिस्तर पर जाने से पहले काफी दूर तक टहलने जाता था। कभी-कभी गर्म कॉफी या चाय भी पीता था। कभी शीतल पेय पीता था। मैंने भरपेट खाना खाकर भी देखा, बिना खाए भी सोने की कोशिश की। मैंने बंदर टोपी पहनकर, आंख-कान ढककर भी सोने की कोशिश की, लेकिन सब बेकार रहा। नींद नहीं आई।'

—'क्या तुमने कभी दूसरे आम कुत्तों की तरह सोने की कोशिश की! नींद की दवाइयों की बजाय आजकल डॉक्टर नींद लाने के लिए मन-ही-मन भेड़ें गिनने की सलाह देते हैं।'

भेड़ों का नाम सुनते ही उसकी आंख खुल गई। उसके नथुने फूल गए।

उसने अपना पंजा मेज पर दे मारा और गुर्राते हुए बोला—'आप मुझे कुछ भी करने के लिए कह सकते हैं, पर भगवान के वास्ते भेड़ें गिनने के लिए मत कहिए, क्योंकि मेरा तो काम ही भेड़ों की रखवाली करना है। मेरा नाम 'माइको' है।

—'लेकिन, इससे तुम्हारी नींद का क्या संबंध?'

—'संबंध है डॉक्टर साहब, संबंध है। मैं सारे दिन भेड़ों का ही तो पीछा करता रहता हूं। आप तो जानते ही हैं, भेड़ों के दिमाग तो होता नहीं। वे तो बस एक-दूसरे के पीछे चलती रहती हैं। वे दिन-भर इधर-उधर घूमती रहती हैं। कभी पहाड़ियों पर चढ़ जाती हैं तो कभी नीचे ढलानों में उतर जाती हैं। हर समय घास के लिए नई-नई जगह ढूंढ़ती रहती हैं और मैं, बस उनके चारों ओर घूमता रहता हूं। उन्हें इधर-उधर भटकने से बचाने के लिए, उन्हें झुंड में रखने के लिए दिन-भर खदेड़ता ही रहता हूं। कई बार तो वे झाड़ियों में घुस जाती हैं, गुफाओं में भी छिप जाती हैं....'—कहते-कहते वह हांफने लगा।

—'रुको, रुको! जरा आराम करो माइको। यह तो तुम्हारा काम ही है।'

—'छोड़ो भी डॉक्टर साहब, क्या आप इसे काम कहते हो? बिल्कुल बेकार का, उबाऊ काम है। सारे दिन दौड़ते रहने पर भी कभी काम खत्म नहीं होता। रात होने तक मैं इतनी बुरी तरह थक जाता हूं कि थकान के मारे नींद ही नहीं आती।'

—'तो फिर तुम कोई दूसरा काम क्यों नहीं ढूंढ़ लेते?'

—'मैं ऐसा कैसे कर सकता हूं?'—उसने एक गहरी सांस ली।—'जब मुझे हमेशा भेड़ों का रखवाला कहकर पुकारा जाता रहा है, तो....'

—'अच्छा, अच्छा, ठीक है! मैं तुम्हें एक दवाई देता हूं।'

—'क्या नींद की गोलियां?'

—'नहीं, नहीं, नींद की गोलियों की आदत डालना बुरी बात है। तुम ऐसा करो कि अपने सोने की जगह बदल लो और बिस्तर की दिशा भी। और भेड़ों की बजाय कौओं को गिनना।'

—'हां, यह ठीक है। कौओं की आवाज भी अच्छी होती है', माइको ने खुश होते हुए कहा—'धन्यवाद डॉक्टर साहब, मैं आपसे फिर मिलूंगा।'

दो दिन के बाद माइको फिर डॉक्टर शेरसिंह के पास आया। डॉक्टर शेरसिंह ने उसे देखते ही जान लिया कि उसकी हालत पहले से भी ज्यादा खराब है।

—'डॉक्टर साहब, मैंने नींद लाने के लिए मन ही मन बहुत-से कौए गिने, पर फिर भी नींद नहीं आई। अब हालत यह है कि मेरे दिमाग में कौओं की कांव-कांव ही गूंजती रहती है। कांव-कांव के अलावा मुझे और कुछ सुनाई ही नहीं देता।'

—'हूं....!'—डॉक्टर पेन को मेज पर ठकठकाते हुए सोचने लगे। फिर बोले—'इसका मतलब है कि कौओं ने तुम्हें और ज्यादा बेचैन कर दिया।'

—'बेचैनी के साथ मुझे ऐसा भी लगने लगा कि जैसे मैं किसी स्कूल में गणित की कक्षा में बैठा हुआ हूं।'

—'ठीक है, आज से तुम गिनती गिनना बंद कर दो और सारी गिनती भूल जाओ। एक, दो, तीन, चार की बजाय अब तुम अपनी आंखें बंद करके किसी सुंदर बाग-बगीचे को देखा करो और उसके रंग-बिरंगे फूलों का ध्यान किया करो।'

—'तब बाग-बगीचे में हरी-भरी घास भी तो दिखेगी।' माइको ने कहा।

—'हां, हां, जरूर दिखेगी।'

—'और मैं हरी-भरी घास पर गेंद को ढूंढ़ता रहूं?'

—'तुम बहुत बोलते हो माइको, चुप होकर मेरी बात सुनो।'—डॉक्टर ने उसे डांटते हुए कहा—'तुम अपने को कुत्ता न मानकर मधुमक्खी मान लो।'

—'क्या?'

—'मधुमक्खी, जो 'भिन्न....भिन्न' करती एक फूल से दूसरे फूल पर जा बैठती है।'

—'ठीक है! अब ऐसा ही करूंगा, धन्यवाद!' —फिर रुककर बोला—'मैं शुक्रवार को मिलूंगा।'

लेकिन माइको शुक्रवार की जगह शनिवार को आया। इस बार उसकी आंखें बाहर को निकली पड़ रही थीं। उसने अपने सिर पर 'आइस बैग' यानी बर्फ से भरी थैली रखी हुई थी। इसलिए उसे पिछले पंजों के बल पर चलकर आना पड़ा और वह वैसे ही डॉक्टर के सामने आ खड़ा हुआ।—'डॉक्टर', वह गुर्राकर बोला— 'मेरे कानों में लगातार 'भिन्न....भिन्न' की आवाज आने लगी है। कृपाकर उसे रोक दो। मुझे ऐसा लग रहा है कि मैं खुद मधुमक्खियों का एक बड़ा-सा छत्ता बन गया हूं।'

—'आंखें खोलो, माइको!'—डॉक्टर ने प्यार से कहा—'देखो, मेरी तरफ देखो।'

माइको ने आंखें खोल दीं।

—'अब बताओ, कहां है मधुमक्खियां?'

माइको ने आंखें खोलकर देखा। फिर सिर हिलाया—'लगता है मधुमक्खियों को मुझ पर दया आ गई, इसलिए वे मेरा पीछा छोड़कर उड़ गईं।'

—'ठीक है, मैं तुम्हारे घर गया था, यह देखने कि तुम क्या-क्या काम करते हो और तुम्हारी भेड़ों से भी बात की।'—डॉक्टर ने गुस्से से कहा।

—'अरे, डॉक्टर साहब! आपने इतनी परेशानी क्यों उठाई? और हां, भेड़ें क्या बताएंगी? उनके तो दिमाग ही नहीं होता।'—माइको ने बुरा-सा मुंह बनाते हुए कहा।

—'ऐसा नहीं है माइको! वे सब जानती हैं कि भेड़ों का रखवाला कुत्ता होकर भी तुम आलसी, कामचोर, चिड़चिड़े और लापरवाह हो। तुम जरा भी मेहनत नहीं करना चाहते।'—डॉक्टर ने अब उसकी असली बीमारी समझ ली थी।

अपनी असलियत पकड़े जाने पर माइको ने अपने सिर पर रखा 'आइस बैग' नीचे फेंक दिया और अपने चारों पांवों पर खड़े होते हुए बोला—'नहीं, मैं कामचोर नहीं हूं। मैं हमेशा अपनी भेड़ों के साथ रहता हूं, उनको झुंड में इकट्ठा करके रखता हूं और खतरों से भी बचाता हूं।'—उसने तेज आवाज में कहा।

—'ठीक है, तुम्हें ऐसा ही करना चाहिए! तुम्हारा काम यही है कि तुम सारी भेड़ों को एक झुंड में रखो और जब वे इधर-उधर भटकने लगें तो तुम उन्हें खतरों से बचाओ।'

—'लेकिन वे तो सारे दिन, हर वक्त कुछ-न-कुछ खाती ही रहती हैं।'

—'हां-हां, वे तो खाती ही रहती हैं, लेकिन उसके साथ ही वे थोड़ा घूमना-फिरना और थोड़ी-सी शांति भी चाहती हैं। तुम हो कि हर वक्त उन पर भौंकते रहते हो। तुम्हारे हर वक्त के भौंकते रहने से वे परेशान हो जाती हैं।'

—'इस तरह भेड़ों के बारे में तो मैंने पहले कभी सोचा ही नहीं?'—माइको ने अपने सिर पर हाथ मारते हुए कहा।

डॉक्टर ने उसके कंधे पर हाथ रखा और प्यार से समझाया—'अब तो तुम समझे? तुम दिन-भर भेड़ों पर गुर्राते रहते हो और पागलों की तरह बेमतलब घूमते-फिरते रहते हो, इसीलिए रात को तुम सो नहीं पाते। अगर तुम भेड़ों के साथ दोस्तों जैसा व्यवहार करो तो वे भी खुश रहेंगी और तुम भी फिर अच्छी तरह सो सकोगे।'

दवाखाने में शांति छा गई। माइको धीरे-से उठा—'धन्यवाद डॉक्टर! आपने मुझे जो यह सही रास्ता दिखाया है कि हमें दूसरों के साथ दोस्ताना व्यवहार करना चाहिए, उसके लिए आपको धन्यवाद!'

—'ठीक है, मुझे दो-चार दिन बाद आकर अपना हाल बताना।'—डॉक्टर ने खुश हो कहा।

एक सप्ताह बाद डॉक्टर शेरसिंह के पास माइको का पत्र आया। पत्र के साथ लिफाफे में डॉक्टर की फीस और एक सुंदर-सा कार्ड रखा था, जिस पर लिखा था—'मैं माइको, भेड़ों का रखवाला हूं।

मैं अब खूब गहरी नींद सोता हूं!'

'पुनश्चः—डॉक्टर साहब! अब मेरी आंख जल्दी नहीं खुलती। दिन में जागता कैसे रहूं, कृपया इसकी दवा बता दें।' ❖

धृति में है सफलता के सोपान

पृष्ठ 54 का शेष

'तिन्नाणं—तारयाणं'—सूत्र संत परंपरा का उज्ज्वल सूत्र रहा है, किंतु जन-मानस को जब सुनने-समझने में सर्वथा अनुपयुक्त पाया, तो वे आत्म-कल्याण के लक्ष्य पर केंद्रित हो गए। 'समयं गोयम! मा पमायए'—पद्य के अनुरूप आत्म-साधना के अनमोल समय को व्यर्थ गंवाना उन्हें कतई उपयुक्त नहीं लगा। कष्टों-विरोधों-अपमानों से डरकर मिथ्या अंधपरंपरा का अनुगमन करना उनको इष्ट नहीं था।

बरसात होती है तो सारा वातावरण शांत-शीतल हो जाता है। फूल खिलता है तो महक फूट पड़ती है। एकांत साधना, ध्यान-मौन, स्वाध्याय, जप-तप की सुवास से जनमानस पर स्वयमेव असर हुआ। अरबी कहावत—'सब्र का फल मीठा' या 'धीरज का फल मीठा'—आचार्यश्री भिक्षु व उनके धर्म-सहयोगियों पर अक्षरशः चरितार्थ हो गई।

तेरापंथ का इतिहास बता रहा है कि तेरापंथ ने अपने संस्थापक आचार्यश्री भिक्षु तथा उनके ध्येय-निष्ठ संतों से यह जीवन-घुट्टी पाई है कि विरोध को धैर्य के साथ सहो। अपनी ऊर्जा को आक्षेप-प्रत्याक्षेप में नष्ट मत करो, सकारात्मक सोच व कार्यों में अपनी ऊर्जा लगाओ, सुखद परिणाम अवश्य प्राप्त होगा।

स्पष्ट है कि धृति ऐसा ही एक सद्गुण है जिसके रहते सफलता के सोपान सहज ही पाए जा सकते हैं। ❖

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

बस्तीमलजी छाजेड़

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से श्री (स्व.) बस्तीमलजी छाजेड़ को प्रदत्त 'शासन हितैषी' अलंकरण महासभा अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा से ग्रहण करते हुए श्री मांगीलाल छाजेड़ व श्रीमती विमलादेवी छाजेड़, सिरियारी (बंगलौर)

मनोहर, माँगीलाल, विमलादेवी, शान्तिलाल
संजय-मंजू, मनीष-मीना, नवीन-चेतना, दर्शन, हर्षिता, मुदित
पद्म परवर, चिरायू, तनीषा छाजेड़

Sha Mangilal Shantilal & Co.

Manufacturers and Wholesale Suppliers of

Pure Silk Sarees, Handloom Silks, Pure Crapes and Art Silk Sarees

'Shanti Bhavan', 64, A.M. Lane, (19-25, First Cross, D.K. Lane)

Chickpet, Bangalore 560053

Phone : Shop : 22261462, 22205965 Fax : 080-22384004

प्रेषण दिनांक 3 अगस्त, 07

Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence
No. Tech.(WR)47-2/05-06/11 Valid till 31-12-2008

जैन भारती, अगस्त, 2007

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

With best compliments from :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, **Bangalore** 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।